ही नोट्स भी लिये थे; परन्तु ग्रन्थके प्रकाशनकी शीघ्रता, योग्य स्वास्थ्यकी कमी और दूसरी भी कुछ परिस्थितियोंके वश मैं वैसा नहीं कर सका। यदि ८० वर्षकी इस अवस्थाके बाद जीवन शेष रहा और ग्रंथकी द्वितीयावृत्तिका अवसर मिल सका तो उस समय अपने उक्त विचारको पूरा करनेका जरूर यत्न किया जायगा।

सन्मार्ग-प्रदर्शक गुरुदेव स्वामी समन्तभद्रकी हृदयमें निरन्तर भावना रहनेसे मैं इस सत्कार्यको पूरा कर सका, इसके लिये मैं उनका हृदयसे आभारी हूँ। साथ ही, उन ग्रन्थकारोंका भी आभार मानता हूँ जिनके ग्रन्थोंका मुझे व्याख्या तथा प्रस्तावनाके लिखनेमें साहाय्य प्राप्त हुआ है।

अनुवादादिके अनेक स्थलों पर मुझे पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीका सत्परामर्श प्राप्त हुआ है, इसके लिये मैं उनका भी आभारी हूँ। अध्यात्मरसिक ला० मक्खनलाल-जी ठेकेदारने ग्रन्थके प्रकाशनमें सहायताका प्रथम वचन देकर जो अनुवादादि कार्यको शीघ्र प्रस्तुत करनेके लिये मुझे प्रोत्साहित किया इसके लिये वे सभीके आभारपात्र हैं। शेष बहन जयवन्तीने ग्रन्थके अनुवादादिकी जो प्रेसकापी तय्यार करके दी और मेरी आँखका ऑपरेशन ताज़ा होने-की वजहसे लिखने पढ़नेमें मुझे सहायता प्रदान की इसके लिये मैं उसका क्या आभार प्रकट करूँ? यह तो उसका

अपना ही कार्य था ।

अन्तमे मेरी यही भावना है कि इस ग्रन्थके अनुवादादिको प्रस्तुत करनेमें जिस सद्भावका उदय हुआ और जो श्रम बन पड़ा है वह मेरे तथा दूसरोंके आत्मविकासमें सहायक होवे ।

वीरसेवामन्दिर, दिल्ली
मगसिर सुदि ३, स० २०१४

जुगलकिशोर, युगवीर

शुद्धि-विधान

पृष्ठ ५० पक्ति ८ मे 'प्रत्येक'से पूर्व 'इनमेंसे' शब्द छपनेसे छूट गये है। और पृष्ठ ७५ पर तीसरी पक्तिमें 'हीं' के पूर्वका 'न' अक्षर दूसरी पंक्तिमे 'पदार्थ'के पूर्व जुड़ गया है अत. पाठक प्रेस की इन दो मोटी अशुद्धियोंको सुधार लेनेकी कृपा करे ।

———

अध्यात्म-रहस्यकी विषय-सूची

अध्यात्म-रहस्य

विद्वद्वर-श्रीमदाशाधर-विरचित

अध्यात्म-रहस्य

(योगोद्दीपन-शास्त्र)

मंगलाचरण

भक्ति-लीन भव्योंको करते, जो निज-पदका अनुपम दान ।
उन श्रीवीरनाथको प्रणमूं, औ' श्रीगौतम गुरू महान ॥१॥
अध्यात्मादिरहस्य शास्त्र जो, योगोद्दीपन-गुणभंडार ।
व्याख्या सुगम करूं मैं उसकी, निज-परके हितको उर धार ॥२

भव्येभ्यो भजमानेभ्यो यो ददाति निजं पदम् ।
तस्मै श्रीवीरनाथाय नमः श्रीगौतमाय च ॥१॥

'जो भजमान भव्योंको—भक्तिमें अनुरक्त सुपात्र भव्यजीवोंको—अपना पद प्रदान करते हैं—जिनके भजन-आराधनसे भव्यप्राणियोंको उन जैसे पदकी प्राप्ति होती है—उन श्रीवीरस्वामीको—अक्षय-ज्ञानलक्ष्मी एवं भारती-विभूतिरूप 'श्री'से सम्पन्न भगवान महावीरको—तथा श्री-गौतमस्वामीको नमस्कार हो ।'

व्याख्या—यहाँ भव्योंका 'भजमान' विशेषण और उन्हें निजपद प्रदानकी बात दोनों ध्यानमें लेने योग्य हैं। इनमें भक्तियोगका रहस्य संनिहित अथवा गुप्त है।

'भजमान' विशेषणके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि निज पद-प्रदानका कार्य उन्हीं भव्यजीवोंको होता है जो सदा सच्चे हृदयसे भक्तिमें अनुरक्त रहते हैं और इसलिए उस पदको प्राप्त करनेके सुपात्र होते हैं—अभक्त अथवा कपट-हृदय प्राणी उस पदकी प्राप्तिके योग्य नहीं होते। वादिराजसूरिने एकीभावमें यह बतलाया है कि 'शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्रके होते हुए भी यदि मुमुक्षुकी मुक्तिप्राप्ति-के प्रति उच्चकोटिकी भक्ति नहीं है तो वह मुक्तिके द्वारको, जिसपर सुदृढ महामोहकी मुद्रा (मुहर)को लिये हुए कपाट लगे हैं, खोलनेमें समर्थ नहीं हो सकता—उच्च-कोटिकी सच्ची सविवेक-भक्ति ही कभी धोखा न देनेवाली या फल (असफल) न होनेवाली वह कुंजी ('अवंचिका कुंचिका') है जो उसे खोलनेमें सदा समर्थ होती है' ❀। अतः उस पद-प्राप्तिके लिये भव्यका 'भजमान' होना

❀ शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखाऽवंचिका कुंचिकेयम्।
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्ति-कामस्य पुंसो
मुक्तेर्द्वारं परिदृढ-महामोह-मुद्रा-कपाटम्॥ १३॥

आवश्यक है और यह विशेषण उसकी निकट-भव्यताका भी द्योतक है।

(निजपद-प्रदानकी बातमें दो बातें शामिल हैं—निज-पद क्या ? और उसका दान क्या अथवा वह कैसे दिया जाता है ? निजपद शुद्ध-स्वाधीन आत्मीय-ज्ञानानन्दमय-पदको कहते हैं, जिसका दूसरा नाम मुक्तिपद है और वह अवस्था-भेदसे दो भागोंमें विभक्त है—एक जीवन्मुक्तिपद, दूसरा विदेहमुक्तिपद। शरीरके रहते जिस पदका उपभोग किया जाता है उसे पहला और शरीरके भी सर्वथा सदाके लिये छूट जाने पर जिसका उपभोग बनता है उसे दूसरा मुक्तिपद (सिद्धपद) कहते हैं।

लोकमें जिस प्रकार एक मनुष्य अपना पद (ओहदा-दर्जा) दूसरेको देकर स्वयं उस पदसे रहित अथवा रिक्त हो जाता है उस प्रकार यह स्वकीय मुक्तिपद न तो स्वेच्छासे किसीको दिया जाता है और न अनिच्छापूर्वक दिया जाने पर मुक्तिपद-प्राप्त आत्मा इस पदसे रहित या रिक्त ही होता है; क्योंकि मुक्तिपद मुक्तात्माका निजरूप अथवा निजी वस्तु है, जिसका दान नहीं बनता। कोई भी द्रव्य अपने स्वरूप या निजी वस्तु गुणका किसी दूसरे द्रव्यको दान नहीं कर सकता—गुणीमें गुण कभी पृथक् नहीं होता और न किया ही जा सकता है। वस्तुतः दान सदा परवस्तुका होता है, जिसे

भूलसे या अहंकारादिके वश अपनी मान लिया जाता है। मुक्तात्माओंमें मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे इच्छा, अहंकार तथा परवस्तुमें अपनी मान्यता-जैसी भूलका कोई सद्भाव ही नहीं बनता, और इसलिये स्वेच्छादिके वश उनमें देने-दिलानेकी कोई बात नहीं बन सकती; तब उनके इस निजपद-दानकी बातमें क्या रहस्य है और वह दान-क्रिया कैसे सम्पन्न होती है, यह सभीके जानने योग्य है; और इसलिये उसे यहाँ खोलकर रखने अथवा स्पष्ट करके बतलानेकी ज़रूरत है।

वस्तुस्थिति ऐसी अथवा असल बात यह है कि सारे भव्यजीव द्रव्यदृष्टिसे परस्पर समान हैं—सबमें मुक्ति-पद-प्राप्तिकी योग्यता है। परन्तु अनादि-कर्ममलसे मलिन एवं आच्छादित होनेके कारण वह योग्यता पूर्णतः विकसित या व्यक्त नहीं हो पाती, प्रायः शक्तिरूपमें ही स्थित चली जाती है। मुक्तात्माओंमें उस योग्यताका पूर्णतः विकास देखकर भव्यप्राणियोंको अपनी भूली हुई आत्मनिधिकी सुधि मिलती है और वे उसे प्राप्त करनेके लिये उन सिद्धात्माओंका भजन, आराधन, सेवन एवं पदानुसरण किया करते हैं, और ऐसा करके असंख्यात गुणी कर्मकी निर्जरा करते हुए उन-जैसी योग्यताको अपनेमें विकसित करके उनके पदको प्राप्त करनेमें उसी प्रकार समर्थ होते हैं जिस

प्रकार एक बत्ती तैलादिमे सुमज्जित होकर जब दीपककी उपासना करती है और गाढ-सम्बन्ध-द्वारा अपनेको उसके साथ मिला देती है तो वह भी स्वयं दीपक बनकर प्रज्ज्वलित हो उठती है * और दीपक या दीप-शिखा कही जाती है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि दीपक जिस प्रकार अपनी उपासना–आराधना करनेवाली भव्य-बत्तीको अनिच्छापूर्वक अपना पद प्रदान करता है और वैसा करके स्वयं उस पदसे रहित नहीं होता—खुद भी दीपक बना रहता है—उसी प्रकार भगवान् महावीर तथा गौतम स्वामी भी अपना भजन—आराधन करनेवाले भव्य-जीवोंको इच्छाके न रहते भी अपना पद प्रदान करते हैं और वैसा करके स्वयं उस पदसे रहित नही होते—खुद भी मुक्तिपद-पर आसीन सिद्ध बने रहते हैं। और इसलिये भजमान भव्योंको अपने-जैसा पद प्राप्त करनेमें सबल निमित्तकारण होनेसे वे उन्हें निजपदको प्रदान करनेवाले कहे जाते हैं। यह अलंकारकी भाषामें कथन है।

यहाँ एक ही पद्यमें वीर-भगवानके साथ गौतमस्वामी-

---

* इसी बातको श्रीपूज्यपादाचार्यने अपने समाधितंत्रमे निम्न वाक्यके द्वारा व्यक्त किया है :—

भिन्नात्मानमुपास्याऽऽत्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

को रखना और दोनोंको एक साथ नमस्कार करना भी रहस्यसे खाली नहीं है। इसके द्वारा भगवानका अपने भक्तको निजपद प्रदान कर स्वसमान बना लेनेका सुन्दर एवं स्पष्ट उदाहरण सामने रक्खा गया है। इन्द्रभूति गौतम श्रीवीरभगवानके प्रमुख शिष्य और प्रधान गणधर ही नहीं थे बल्कि अनन्यभक्त थे और अपनी उस असाधारण भक्तिके वश तदनुरूप आचरण करके उन्हींके समान मुक्ति-पदको प्राप्त हुए हैं—आराधकसे आराध्य और सेवकसे सेव्य बनकर नमस्कारके पात्र बने हैं। इसीसे श्रीवीरस्वामी-के साथ उन्हें भी नमस्कार किया गया है। प्रस्तुत पद्यमें 'नमः' शब्द एक होते हुए भी देहली-दीप-न्यायसे दोनों के लिये समानरूपमें प्रयुक्त हुआ है अथवा 'च' शब्दके साथमें अपनी पुनरावृत्तिकी सूचनाको लिये हुए है।

वस्तुतः सच्ची सविवेक भक्ति ही भक्तको भगवान बनानेमें समर्थ होती है और उसके लिये सदा तदनुरूप आचरणकी ज़रूरत रहती है। तदनुकूल आचरणके बिना भक्तिके कोरे गीत गाने अथवा यंत्र-संचालित-जैसी भाव-शून्य-क्रियाएँ करनेसे वह नहीं बनती। गौतमस्वामीने तदनुकूल आचरण करके वीरभगवानके प्रति अपनी भक्ति-को चरितार्थ किया है और इसीसे वे उनके पदको प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं। दोनोंके साथ 'श्री' विशेषण भी

समान रूपसे प्रयुक्त हुआ है, जो उनकी ज्ञान-लक्ष्मी और भारती-विभूतिका द्योतक है। अभव्योंको यह पद कभी प्राप्त नहीं होता, इसलिये भव्योंको लक्ष्य करके ही यहाँ निजपद प्रदानकी बात कही गई है और उसके द्वारा निमित्तकारणके साथ उपादानकारणकी भी आवश्यकता एवं अनिवार्यताको घोषित किया गया है।

इस तरह साधारण-सा प्रतीत होनेवाले इस मंगलपद्य-में भक्ति-योगका आध्यात्मिक रहस्य भरा हुआ है।

नमः सद्गुरवे तस्मै यद्वाग्दीप-स्फुटी-कृतात्।
मार्गादारूढयोगः स्यान्मोक्षलक्ष्मीकटाक्षभाक्॥२

'उस सद्गुरुको नमस्कार है जिसके वचनरूप दीपकके द्वारा स्पष्ट किये गये (योग)मार्गके कारण आरूढयोगी—योग-मार्ग पर चलना प्रारम्भ करनेवाला ध्यानी भव्य-प्राणी—मोक्ष-लक्ष्मीके कटाक्षका भागी होता है—मोक्ष-लक्ष्मी प्रसन्न होकर उसे अनुरागभरी तिर्यक्दृष्टि (तिरछी-नज़र) से देखने लगती है और वह क्रमशः योगमें उन्नति करता हुआ उस लक्ष्मीको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।'

व्याख्या—यहाँ सद्गुरुको नमस्कार करते हुए मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्तिमें योगाभ्यासकी प्रधानताको घोषित किया है और साथ ही यह बतलाया है कि वह योगमार्ग सद्-

गुरुके वचन-प्रकाशसे स्पष्ट दिखाई पड़ता है और तभी उसपर चलना बनता है। वह सद्गुरु कौन? यह एक समस्या है जो यहाँ हल होनेके लिये रह जाती है। सद्गुरु अनेक होते हैं और अनेक विषयोंके अलग अलग भी होते हैं। यहाँ उस सद्गुरुका अभिप्राय है जिसकी वाणीके प्रसादसे अभ्यासी जनको उस दृष्टिकी प्राप्ति होती है जिससे शुद्धात्माको साक्षात् किया जाता अथवा देखा जाता है, और वह सद्दृष्टि ही मोक्ष-लक्ष्मीको अपनी ओर आकर्षित करती है। ऐसे सद्गुरु निश्चय और व्यवहारनयकी भेद-दृष्टिसे दो प्रकारके होते हैं—व्यवहारगुरु तो वे लोक-प्रसिद्ध गुरु हैं जिनके वचनोंको सुनकर तथा पढ़कर सद्दृष्टिकी प्राप्ति होती है, वे चाहे साक्षात् मौजूद हों या न हों। और निश्चयगुरु एक अपना अन्तरात्मा होता है, जिसकी वाणी अन्तर्नाद कहलाती है और जो कभी-कभी भीतर ही भीतर सुनाई पड़ा करती है। इसी निश्चय-दृष्टिको लेकर श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने समाधितंत्रमें, 'आत्मैव गुरुरात्मनः' इस वाक्यके द्वारा, यह प्रतिपादन किया है कि वास्तवमें आत्मा ही आत्माका गुरु है।

योग-पारगामी योगी

शुद्धे श्रुति-मति-ध्याति-दृष्टयः स्वात्मनि क्रमात्।
यस्य सद्गुरुतः सिद्धाः स योगी योगपारगः॥३॥

'जिसके शुद्धस्वात्मामें—निजात्माकी राग-द्वेष-मोहसे रहित अवस्थामें—सद्गुरुके प्रसादसे श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि ये चारों (शक्तियाँ) क्रमशः सिद्ध हो जाती हैं वह योगी योगका पारगामी होता है।'

व्याख्या—यहाँ योगके अभ्यासीको योगका पार-गामी (पूर्ण योगी) होनेके लिए जिन चार शक्तियों श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टिके क्रमसे सिद्ध होनेकी जरूरत है उनका क्या स्वरूप अथवा लक्षण है उसे ग्रंथकारने स्वयं आगे बतलाया है; साथ ही स्वात्मा, शुद्धस्वात्मा और सद्गुरुका भी अभीष्ट स्वरूप दिया है। अतः उन सबकी यहाँ व्याख्या करनेकी ज़रूरत नहीं है, केवल इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि शुद्धस्वात्माका अभिप्राय यहाँ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप मलके सर्वथा अभाव होनेका नहीं है—सारे कर्ममलके सर्वथा अभाव हो जानेकी अवस्थामें तो फिर किसी योग-साधना अथवा सिद्धि-प्राप्ति की ज़रूरत ही नहीं रहती—; किन्तु अपने आत्माकी उस समय-सम्बन्धी शुद्धावस्थासे अभिप्राय है जिस समय वह राग-द्वेष और मोहमें प्रवृत्त न होकर दर्शन, ज्ञान और साम्य भावके रूपमें परिणत होता है। उस शुद्धावस्थाको कुछ काल तक स्थिर रखनेका अभ्यास बढाते हुए ही उक्त श्रुति आदिकी सिद्धिका प्रयत्न किया जाता है। स्वात्माकी

अशुद्धावस्थामें उनकी सिद्धि नहीं बन सकती, इसी बातको द्योतन करनेके लिये 'स्वात्मनि' पदका विशेषण 'शुद्धे' दिया गया है, जो खास तौरसे यहाँ ध्यानमें लेने योग्य है।

इसी तरह सद्गुरुका अभिप्राय मात्र अपने दीक्षागुरु या विद्यागुरुसे नहीं है, बल्कि उस गुरुसे है जिससे प्रथमतः श्रुतिकी और अन्ततः आत्म-साक्षात्कार करनेवाली दृष्टिकी प्राप्ति होती है और वह व्यवहार तथा निश्चयके भेदसे दो भेदरूप है, जिनका विशेषस्वरूप आगे बतलाया गया है।

स्वात्माका स्वरूप

स स्वात्मेत्युच्यते शश्वद्भाति हृत्पंकजोदरे।
यो[1]ऽहमित्यंजसा शब्दात्पशूनां[2] स्वविदा[3] विदाम्॥४

'जो आत्मा निरन्तर हृदय-कमलके मध्यमें-उसकी कर्णिकाके अन्तर्गत—'अहं' शब्दके वाच्यरूपसे—'मैं' के भावको लिए हुए—पशुओं—मूढों तकको और स्वसंवेदन-(स्वानुभूति) से ज्ञानियोंको स्पष्ट प्रतिभासित होता है वह 'स्वात्मा' कहा जाता है।

व्याख्या—अपना आत्मा, निजात्मा और स्वात्मा ये सब एक ही अर्थके द्योतक शब्द हैं। आत्माका निज-त्व-वाचक 'स्व' विशेषण परजीवोंके आत्माओंसे अपने

१ आत्मा। २ मूर्खाणाम्। ३ स्वस्य ज्ञानेन।

आत्माके पृथक् व्यक्तित्वका सूचक है। द्रव्यदृष्टिसे अथवा गुणोंकी अपेक्षा आत्माओंके परस्पर समान होते हुए भी व्यक्तित्वकी या भिन्नप्रदेशोंकी दृष्टिसे सब आत्माएँ अलग अलग हैं, सबकी साधना और विकास-क्रम भी अलग-अलग हैं, और इसलिये विकासमार्गमें आत्माके पृथक् व्यक्तित्वको सबसे पहले ध्यानमें लेने की ज़रूरत है। आत्मा-का यह पृथग्व्यक्तित्व सभी संज्ञी (समनस्क) जीवोंको— चाहे वे मूढसे मूढ अथवा पशु ही क्यों न हों—'अहं' शब्द-के वाच्यरूपमें भासमान होता है। अर्थात् जो यह अनुभव करता है कि मै सुखी हूँ, मै खाता हूँ, मै पीता हूँ, मै सोता हूँ, मैं जागता हूँ, मै चलता हूँ, मै बैठता हूँ, मैं सर्दी-गर्मी-भूख-प्यास अथवा वध-बन्धनादिसे पीड़ित हूँ इत्यादि, वह स्वात्मा है और स्वात्मा मुख्यतः हृदय-कमलके मध्यमें, जिसे कर्णिका कहते हैं, भासमान रहता है। कमलकी कर्णिका-में जिस प्रकार अक्ष (कमल-बीज) का वास है उसी प्रकार हृदय-कमलके मध्य में अक्ष (आत्मा) का वास है, जिसे आत्मज्ञानी जन स्व-संवेदन अथवा स्वानुभूतिसे लक्षित किया करते हैं। शुद्धात्मा—परमात्माका अनुसंधान भी योगिजनोंके द्वारा इसी हृदय-कमलकी कर्णिकाके मध्यमें किया जाता है; जैसा कि 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

व्याख्या—यहाँ सामान्यतः गुरुवाणी मात्रका नाम श्रुति नहीं है, किन्तु उस विशिष्ट-गुरुवाणीका नाम श्रुति है जो आप्तके द्वारा उपदिष्ट ध्येयको धर्म्य-ध्यान और शुक्ल-ध्यानमें इस तरहसे आयोजित करनेकी व्यवस्था करती हो जिससे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ कोई विरोध घटित न होता हो। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जिस गुरुवाणीकी स्वात्माको धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानकी ओर लगाकर उसके ध्येयको प्राप्त करानेकी निर्दोष शासना हो उसे 'श्रुति' कहते हैं।

यहाँ ध्येयका 'आप्तोपज्ञ' विशेषण इस बातको सूचित करता है कि वह ध्येय कोई यद्वा तद्वा पदार्थ न होना चाहिये; बल्कि वह होना चाहिये जो आप्तके द्वारा धर्म्य-ध्यान और शुक्लध्यानके उपयुक्त विषयरूपमें निर्दिष्ट हुआ है, और वह है आत्माका शुद्धस्वरूप, रहस्य तथा उसकी साधन-सामग्री।

आप्तका लक्षण स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) की 'आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनाऽऽ-गमेशिना भवितव्यं' इत्यादि कारिकामें दिया है। इसके अनुसार जो वीतराग, सर्वज्ञ और आगमेशी अथवा परम-हितोपदेशी हो उसे 'आप्त' समझना चाहिये और उसीके द्वारा उपदिष्ट ध्येयका यहाँ पर ग्रहण है। आप्तका उपदेश

अपनेको आचार्य-गुरु-परम्परासे प्राप्त है और वह अनेक शास्त्रोंमें निबद्ध है। शास्त्र-निबद्ध अमुक उपदेश आप्तोपज्ञ है या कि नहीं? इसकी प्रमुख कसौटी यही है कि वह दृष्ट तथा इष्टके विरोधको तो लिये हुए नहीं है। यदि ऐसे विरोधको लिये हुए है तो समझना चाहिये कि वह आप्तोपज्ञ नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग और परम हितोपदेशी आप्तका वचन स्वरूपतः सदा ही ऐसे विरोधसे रहित होता है। इसीसे यहाँ ध्येयकी ध्यानमें शासनाके लिये 'अदृष्टेष्टविरोधात्' पदकी खास तौरसे योजना की गई है।

अब रही गुरुवाणीकी बात; जिस गुरुवाणीको यहाँ श्रुति कहा गया है उसका अभिप्राय एकमात्र उस गुरुवाणी-से नहीं है जो साक्षात् गुरुने अपने मुखसे कही हो और शिष्यने अपने कानोंसे सुनी हो, बल्कि उस गुरुवाणीका भी अभिप्राय है जो गुरु-परम्परासे अपनेको प्राप्त हुई हो अथवा परम्परा-गुरुके द्वारा किसी शास्त्रमें निबद्ध की गई हो और उस शास्त्रको पढने सुनने आदिके द्वारा वह अपनेको उपलब्ध हुई हो।

धर्म्य और शुक्ल नामके जिन दो ध्यानोंका यहाँ उल्लेख है वे प्रशस्त ध्यान हैं, आध्यात्मिक दृष्टिसे उन्हीं-की मान्यता है और वे ही आत्मविकासमें सहायक होनेसे उपादेय हैं। शेष आर्त्त और रौद्र नामके दूसरे दो ध्यान

अप्रशस्त कहलाते हैं, वे आत्म-विकासमें बाधक हैं और इसलिये मुमुक्षुओंके द्वारा त्याज्य हैं*। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयधर्मसे, उत्तमक्षमादिरूप दशलक्षणधर्म-से, मोह-क्षोभादिसे रहित आत्मपरिणामरूप चारित्रधर्मसे अथवा वस्तुके याथात्म्यरूप स्वभावधर्मसे जो उपयुक्त है वह 'धर्म्यध्यान कहलाता है†। (शुक्लध्यान उसका नाम है जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके मलसे रहित होनेके कारण विशुद्धि (शुचिगुणके प्रकर्षयोग) को प्राप्त है अथवा कषाय-रजके क्षय या उपशमके कारण सुनिर्मल एवं निष्प्र-कम्प बना हुआ है और साथही तत्त्वज्ञानमय उदासीन-भावको लिये हुए होता है। यह ध्यान अपूर्वकरणादि गुणस्थान-धारी मुनियोंके ही बन सकता है‡)। धर्म्यध्यान-के स्वामी अविरतसम्यग्दृष्टि, देशसंयमी, प्रमत्त और अप्रमत्त ऐसे चार गुणस्थानवर्ती जीव कहे गये हैं, (जिनमें प्रथम दो गुणस्थान गृहस्थोंसे और शेष दो मुनियोंसे सम्बन्ध रखते हैं, और इस तरह गृहस्थ भी धर्म्यध्यानके अधिकारी हैं।)

अब देखना यह है कि ध्यान किसको कहते हैं? तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रंथोंमें 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' जैसे वाक्योंके द्वारा एकाग्रमें चिन्ताके निरोधको ध्यान कहा है।

* तत्त्वानुशासन ३४ † तत्त्वा० ५१-५५ ‡ तत्त्वा० २२१, २२२

अब देखना यह है कि ध्यान किसको कहते हैं ? [त]त्त्वार्थसूत्रादि ग्रंथोंमें 'एकाग्र-चिन्ता-निरोधो ध्यानं' जैसे [व]ाक्योंके द्वारा एकाग्रमें चिन्ताके निरोधको ध्यान कहा है। [इ]स लक्षणात्मक वाक्यमें एक, अग्र, चिन्ता और निरोध [य]े चार शब्द हैं। इनमें एक प्रधानका, अग्र आलम्बनका, चिन्ता स्मृतिका और निरोध शब्द नियंत्रणका वाचक है, और इससे लक्षणका फलितार्थ यह हुआ कि 'किसी एक [प्र]धान आलम्बनमें—चाहे वह द्रव्यरूप हो या पर्यायरूप— स्मृतिका नियंत्रित करना—नाना आलम्बनोंसे हटाकर उसी [मे]ं उसे रोक रखकर अन्यत्र न जाने देना—'ध्यान' कहलाता है। अथवा 'अंगति जानातीत्यग्र आत्मा' इस निरुक्तिसे 'अग्र' नाम आत्माका है, सारे तत्त्वोंमें अग्रगण्य होनेसे [भ]ी आत्माको अग्र कहा जाता है। द्रव्यार्थिकनयसे 'एक' [न]ाम केवल, असहाय या तथोदित (स्वात्म-शुद्ध) का है; 'चिन्ता' अन्तःकरणकी वृत्तिको और 'निरोध' नियंत्रण [त]था अभावको भी कहते हैं। इस दृष्टिसे एक मात्र शुद्धा-[त्]मामें चित्तवृत्तिके नियंत्रण एवं चिन्तान्तरके अभावको [ध्]यान कहते हैं, जो कि केवल स्व-संवित्तिमय होता है*।

ध्यानमें एकाग्रताको सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त है, [व]ह व्यग्रतामय अज्ञानकी निवृत्तिरूप है और उससे शक्ति

* तत्त्वानुशासन ५६-६५।

केन्द्रित एवं चलनर्नां होकर शीघ्र ही नकुनलकी प्राप्ति होती है।

धर्म्यध्यानके भेद-प्रभेदों, ध्यानके अंगों, ध्यानकी सामग्री तथा साधन-विधि और उसके फल आदिका विशेष वर्णन ध्यान-विषयक शास्त्रोंमे—तत्त्वानुशासन तथा ज्ञानार्णवादि जैसे ग्रंथोंसे—भले प्रकार जाना जा सकता है। यहां प्रकृत विषयको समझनेके लिए कुछ अत्यन्त उपयोगी बातोंको ही स्पष्ट किया गया है।

मतिका लक्षण

श्रुत्या निरूपितः सम्यक् शुद्धः स्वात्माऽसा यया।
युक्त्या व्यवस्थाप्यतेसौ मतिरत्रानुमन्यताम् ॥७॥

'श्रुतिके द्वारा सम्यक् निरूपित शुद्ध स्वात्मा जिससे युक्ति-पूर्वक व्यवस्थापित किया जाता है उसे यहाँ—इस अध्यात्मशास्त्रमें—'मति' मानना चाहिये।'

व्याख्या—गुरुवाणीने जिसका भले प्रकार निरूपण किया हो वह शुद्ध-स्वात्मा जिसके द्वारा युक्तिपूर्वक व्यवस्थापित अथवा नय-प्रमाणके बलपर संसिद्ध किया जाता है उसका यहाँ 'मति'के नामसे निर्देश किया गया है। (गुरुवाणी प्रायः उपदेश या आदेशके रूपमें होती है, उसमें कारण-विशेषके विना युक्तिवादके लिये स्थान

नहीं रहता और युक्तिवादके विना विषयको हृदयंगम करनेमें दृढता नहीं आती—वह कोरी श्रद्धाको दृढ बनाती तथा उसकी साधनामें प्राणका संचार करती है। इसीसे श्रुतिके बाद मतिका स्थान रक्खा गया है। मतिका दूसरा नाम 'बुद्धि' भी है, जिसका ग्रंथमें आगे प्रयोग किया गया है। ('मति' शब्द कहीं-कहीं स्मृति आदि दूसरे अर्थोंमें भी प्रयुक्त होता है; जैसाकि "मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरं" इस तत्त्वार्थसूत्रसे जाना जाता है। यहाँ उसका प्रकृत अथवा प्रस्तुत अर्थ लेनेकी सूचनाके लिये ही मूलमें 'अनुमन्यतां' से पहले 'अत्र' शब्दका प्रयोग किया गया है।)

ध्यातिका लक्षण

सन्तत्या वर्तते बुद्धिः शुद्धस्वात्मनि या स्थिरा।
ज्ञानान्तरास्पर्शवती[1] सा ध्यातिरिह गृह्यताम्॥८॥

'जो बुद्धि सन्ततिसे—सन्तान-क्रम अथवा प्रवाह-रूपसे—शुद्धस्वात्मामें स्थिर वर्तती है—अपने शुद्धात्मा-का अनुभव करती रहती है—और ज्ञानान्तरका—शुद्ध-स्वात्माके ज्ञानसे भिन्न पर-पदार्थोंके ज्ञानका स्पर्श नहीं करती उसे यहाँ 'ध्याति' नामसे ग्रहण करना चाहिये।'

१ परद्रव्याऽस्पर्शवती स्वद्रव्यस्पर्शवती इत्यर्थ.।

व्याख्या—प्रवाहरूपसे शुद्धस्वात्मामें वर्तनेवाली बुद्धि जब शुद्ध-स्वात्मामें इतनी अधिक स्थिर अथवा एकाग्र होजाती है कि शुद्धस्वात्मासे भिन्न किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानका स्पर्श तक नहीं करती तब वह ध्यानारूढ अथवा ध्यानरूप परिणत बुद्धि ही 'ध्याति' नामको प्राप्त होती है।

यहाँ बुद्धिका 'स्थिरा' विशेषणके साथ 'ज्ञानान्तरा-ऽस्पर्शवर्ती' विशेषण खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और वह 'एकाग्र-चिन्ता-निरोध'का द्योतक है, जो कि ध्यानका प्रसिद्ध लक्षण है, और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि यदि बुद्धि ध्यानके समय ध्येयके अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ-ज्ञानका भी स्पर्श कर रही है तो समझना चाहिये कि वह ध्येयके प्रति एकाग्र नहीं, और इसलिये 'ध्याति' पदके योग्य नहीं। ध्यातिको ध्यान बतलाते हुए यही बात श्रीरामसेनाचार्यने तत्त्वानुशासनके निम्न वाक्यमें प्रतिपादन की है—

> इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्सन्तानवर्तिनी।
> ज्ञानान्तराऽपरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥७२॥

दृष्टिका लक्षण

शुद्धः स्वात्मा यया साक्षात् क्रियते ज्ञानविग्रहः।
विशिष्टभावना-स्पष्ट-श्रुतात्मा दृष्टिरत्र सा ॥६॥

जिसके द्वारा शुद्ध-स्वात्मा ज्ञानशरीरी तथा विशिष्ट भावनाके बलपर श्रुतको अपनेमें स्पष्ट किये हुए साक्षात् किया जाता है—प्रत्यक्षरूपमें प्रतिभासित होता है—वह यहाँ (इस अध्यात्म-योगशास्त्रमें) 'दृष्टि' कही जाती है।'

व्याख्या—ध्यातिके अनन्तर शुद्धस्वात्माका (जिसके द्वारा साक्षात्—प्रत्यक्ष अवलोकन—किया जाता है) उसका नाम 'दृष्टि' है। यह दृष्टि बाहिरी चर्मचक्षुओंसे देखने-वाली दृष्टि नहीं है, किन्तु वह अन्तर्दृष्टि है जो व्यवधानों-को भेदकर शुद्ध-स्वात्माका साक्षात् दर्शन करानेवाली है। इस दृष्टिके द्वारा स्वात्मा अपने शुद्ध-स्वरूपमें रागा-दिक विकल्पोंसे रहित 'ज्ञानशरीरी' नजर आता है और ऐसा जान पड़ता है कि वह विशिष्ट-भावनाके बलपर सारे श्रुतज्ञानको अपनेमें स्पष्ट अथवा अंकित किये हुए है।

संवित्ति और दृष्टिका स्पष्टीकरण

निज-लक्षणतो लक्ष्यं यद्वानुभवतः(ति) सुखम्।
सा संवित्तिर्दृष्टिरात्मा लक्ष्यं दृग्धीश्च लक्षणम् १०

'अथवा जो अपने लक्षणसे लक्ष्यको अच्छी तरह अनु-भव करे—जाने वह संवित्ति 'दृष्टि' कहलाती है। यहाँपर आत्मा लक्ष्य है और दर्शन-ज्ञान उसका लक्षण है।'

व्याख्या—यहाँ प्रकारान्तरसे संवित्तिके रूपमें दृष्टिके

स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है; क्योंकि अध्यात्म-विषयक अनेक ग्रंथोंमें दृष्टि-विषयके इस आत्मसाक्षात्कारको 'संवित्ति' के नामसे उल्लेखित किया है, जो आत्मारूप लक्ष्यको उसके निजी लक्षण दर्शन और ज्ञानके द्वारा भले प्रकार अनुभव किया करती है।

दृष्टिका माहात्म्य

सैव सर्वविकल्पानां दहनी दुःखदायिनाम्।
सैव स्यात्तत्परं[1] ब्रह्म सैव योगिभिरर्थ्यते[2] ॥११॥

'वह शुद्धस्वात्माको साक्षात करनेवाली दृष्टि ही समस्त दुःखदायी विकल्पोंको भस्म करनेवाली है, वही उस प्रसिद्ध परमब्रह्मस्वरूप है और वही योगियोंके द्वारा उपादेय होकर प्रार्थना की जाती है।'

व्याख्या—इस पद्यमें शुद्धस्वात्माका साक्षात्कार कराने वाली दृष्टिके माहात्म्यका वर्णन है और उसके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि वह दृष्टि ही उन विकल्पोंको जला डालनेवाली है जो अपने आत्माको दुःख तथा कष्ट दिया करते है, वही (परंब्रह्मको प्राप्त करानेसे) परंब्रह्मरूप है और उसकी प्राप्ति ही योगिजनोंका परम लक्ष्य रहता है, और इसीसे वे उसके लिये प्रार्थना एवं भावना किया करते हैं।

---

१ तत्प्रसिद्ध। २ उपादेयरूपां क्रियते याच्यते।

श्रुतसागरके मन्थनका उद्देश्य

तदर्थमेव मथ्येत बुधैः पूर्वं श्रुतार्णवः ।
ततश्चामृतमप्यन्यद्वार्तमेव मनीषिणाम् ॥१२॥

'शुद्धस्वात्माको साक्षात् करानेवाली उस दृष्टिकी प्राप्ति अथवा संवित्तिके लिये ही बुधजनों-द्वारा पहले श्रुतसागर मथा जाता है और उस मंथनसे अमृत(मोक्ष)की भी प्राप्ति होती है; अन्य सब तो मनीषियोंका नैपुण्य अथवा बुद्धि-कौशल है।'

व्याख्या—यहाँ बुधजनों-द्वारा श्रुतसागरके मंथनका साररूपमें इतना ही उद्देश्य दिया है कि उससे शुद्धस्वात्मा-को साक्षात् करानेवाली दृष्टिकी प्राप्ति होती है और साथमें अमृतकी—अमरत्वरूप मोक्षकी—भी उपलब्धि होती है। यही दोनों श्रुताभ्यासके प्रमुख लक्ष्य हैं। और सब तो बुद्धिशालियोंका बुद्धिकौशल है, जिसके द्वारा वे श्रुत-सागरको मथकर अन्य अनेक बातोंका आविष्कार किया करते हैं।

व्यवहार और निश्चय सद्गुरुका स्वरूप

यद्गिराभ्यस्यतः सा स्याद् व्यवहारात्स सद्गुरुः ।
स्वात्मैव निश्चयात्तस्यास्तदन्तर्वाग्भवत्वतः ॥१३

('जिसकी वाणीके निमित्तसे योगाभ्यासीको उक्त दृष्टि प्राप्त होती है वह व्यवहार (नय)से सद्गुरु है,) निश्चय-

(नय) से स्वात्मा ही उस दृष्टि या गुरुवाणीका सद्गुरु है, अतः उसका अन्तर्नाद होवे—सुनाई पड़े ।'

व्याख्या—यहाँ सद्गुरुके दो भेद किये गये हैं, एक व्यवहारगुरु और दूसरा निश्चयगुरु। व्यवहारगुरु वह है जिसकी शब्दाक्षरमयी वाणी उस दृष्टिकी प्राप्तिमें बाह्य निमित्त पडती है, और निश्चयगुरु अपना आत्मा ही है, जिसका अन्तर्नाद उस दृष्टिके ग्रहणमें अन्तरंग (भीतरी) कारण पडता है और जिसके विवेक-विना व्यवहारगुरुका वचन भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता। इसीसे श्रीपूज्यपादाचार्यने समाधितन्त्रमें कहा है कि परमार्थसे आत्माका गुरु अपना आत्मा ही है, अन्य नहीं है—

"गुरुरात्माऽऽत्मनस्तस्मान्नाऽन्योऽस्ति परमार्थतः ।"

जिसे यहाँ व्यवहारगुरु कहा है वह साक्षात्गुरु तथा परम्परागुरु दोनों रूपमें हो सकता है, उसकी वाणी भी साक्षात् तथा परम्परासे सुनी जानेवाली हो सकती है और वह किसी शास्त्रमें निबद्ध भी हो सकती है।

यहाँ स्वात्माके अन्तर्नादकी जो भावना की गई है वह प्रशंसनीय है और अपनेको स्वात्माभिमुखी बनानेमें सहायक है। अन्तरात्माकी आवाज़ अथवा Conscience की पुकार बहुधा हुआ करती है और वह प्रायः ठीक तथा सन्मार्ग-दर्शक होती है; परन्तु मनुष्य अपने अहंकारादिके

वश बहुधा उसकी अवहेलना तथा उपेक्षा कर जाता है और इसलिये सन्मार्गसे च्युत होजाता अथवा बना रहता है।

मोक्षमार्ग और उसकी आराधना

***रत्नत्रयात्म-स्वात्मैव मोक्षमार्गोऽञ्जसास्ति तत्।**
स पृष्टव्यः स एष्टव्यः स द्रष्टव्यो मुमुक्षुभिः ॥१४॥

'रत्नत्रयात्मक–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप–वह शुद्ध स्वात्मा ही यथार्थतः मोक्षमार्ग है। अतः मुमुक्षुओंके द्वारा वही पृच्छनीय, वही अभिलषणीय और वही दर्शनीय है।'

व्याख्या—यहाँ उसी निश्चयनयकी दृष्टिसे कथन है, जो शुद्धस्वात्माको ही परमार्थतः गुरु बतलाती है। उसकी दृष्टिमें जब शुद्धस्वात्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है तो वही वास्तवमें साक्षात् मोक्षमार्ग है, तब मुमुक्षुओंको उसे छोड़कर अन्य किससे मोक्षमार्ग पूछना चाहिये, किसकी अभिलाषा करनी चाहिये और किसके दर्शनोंकी इच्छा रखनी चाहिये? एकमात्र अपने उस रत्नत्रयात्मक स्वात्माको ही गुरु मानकर उससे पूछना चाहिये और उसको अपना अभिलषणीय तथा दर्शनीय बनाना चाहिये। जब कोई अपने शुद्ध स्वात्मासे गाढ

* अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४६॥
—इष्टोपदेशे, पूज्यपादाचार्यः

सम्पर्क स्थापित करेगा तब उसके द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकेगा—उसे अन्यत्र भटकनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप

शुद्धचिदानन्दमयं
स्वात्मानं प्रति तथाप्रतीत्यनुभूत्योः।
स्थित्यां चाभिमुखत्वं
गौण्या दृग्धीक्रियास्तदुपयोगोऽग्र्याः[1] ॥१५॥

'शुद्धचिदानन्दमय स्वात्माके प्रति जो तद्रूप प्रतीति, अनुभूति और स्थितिमें अभिमुखता है वह क्रमशः गौण (व्यवहार) दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। और उन प्रतीति-अनुभूति तथा स्थितिमें जो उपयुक्तता (उपयोगकी प्रवृत्ति) है वह मुख्य (निश्चय) दर्शन, ज्ञान और चारित्र है।

व्याख्या—पिछले पद्यमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप जिस रत्नत्रयका उल्लेख है यहाँ उन तीनों रत्नोंका स्वरूप व्यवहार तथा निश्चयनयकी दृष्टिसे दिया है और व्यवहारको 'गौण' तथा निश्चयको 'मुख्य' रूपसे प्रतिपादन किया है। इस स्वरूप-कथनमें शुद्धचिदानन्दमय स्वात्माके प्रति प्रतीतिका नाम 'दर्शन,' अनुभूतिका नाम 'ज्ञान' और स्थितिका नाम 'चारित्र' है। इस प्रतीति, अनुभूति और स्थितिमें

1 मुख्याः।

जब अभिमुखता होती है तब दर्शन, ज्ञान और चारित्र गौण्य कहलाते हैं—व्यवहारनयके विषयरूपसे निर्दिष्ट होते है। और जब इस प्रतीति, अनुभूति और स्थितिमें उपयुक्तता होती है तब वे दर्शन, ज्ञान और चारित्र मुख्य कहे जाते हैं—निश्चनयके विषयरूपसे निर्दिष्ट होते हैं। इतना ही दोनोंमें परस्पर उभयनयकी दृष्टिसे अन्तर है। शुद्ध-चिदानन्दमय स्वात्माको दोनों ही प्रकारके रत्नत्रय अपनी प्रतीति आदिका विषय बनाते हैं।

निश्चय रत्नत्रयकी स्पष्ट झॉकी

बुद्धयाधानाच्छ्रद्दधानः स्वं संवेदयते स्वयम्।
यथा संवेद्यमाने स्वे लीयते च त्रयीमयः[1] ॥१६

'सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप त्रिगुणात्मक जीव बुद्ध्याधानसे—बुद्धिमें आत्माकी धारणासे—स्वात्माका श्रद्धान करता हुआ स्वात्माका इस तरह संवेदन करता है कि संवेद्यमान स्वात्मामें स्वयं लीन होजाता है।'

व्याख्या—यहॉ संवेदनकी एकाग्रताके माहात्म्यका द्योतन किया गया है और यह प्रकट किया गया है कि उसके प्रभावसे संवेदनकर्ता स्वात्मा बुद्ध्याधानसे शुद्ध स्वात्माका श्रद्धान करता हुआ अपने संवेद्यमान शुद्ध-स्वरूपमें स्वयं लीन हो जाता है। यह लीनता ही उसके

१ रत्नत्रयमयः।

सम्यक्चारित्र-गुणका उच्च विकास है, जिसका प्रधान कारण शुद्धस्वात्माका श्रद्धान है, जो कि बुद्धिमें स्वात्मा-की धारणासे बनता है। और इस तरह बुद्धिमें स्वात्माकी धारणाको बड़ा महत्त्व प्राप्त है। जो जीव देहादिकमें आत्म-धारणा किये हुए हैं वे भ्रान्त हैं, बहिरात्मा* हैं और उनका आत्म-विकास उस वक्त तक नहीं बन सकता जब तक कि वे वैसी धारणाको अपनाए रहते हैं।

जिस बुद्धिका यहां उल्लेख है उसका स्वरूप आगे दिया गया है।

बुद्धिका लक्षण

यथास्थितार्थान् पश्यन्ती धीःस्वात्माभिमुखी सदा।
बुद्धिरत्र तदा बन्धो बुद्ध्याधानं[1] तदन्वियात्[2] ।१७

'जिस रूपमें पदार्थ स्थित हैं उसी रूपमें उनको देखती-जानती हुई धी (मति), जो सदा स्वात्माभिमुखी होती है वह, यहाँ बुद्धिके रूपमें ग्राह्य है; तब हे बन्धु! उस बुद्धिके आत्म-सम्बन्धको समझो।'

व्याख्या—यहाँ बुद्धि उस सुमतिका नाम है जो जिस रूपमें पदार्थ स्वरूपसे स्थित हैं उनको उसी रूपमें देखती-

---

* बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः। (समाधितन्त्रे पूज्यपादः)
१ तस्याः बुद्धेः, आधानं सम्बन्धः बुद्ध्याधानं कथ्यते।
२ जानीयात्।

जानती है—अन्यथा अथवा न्यूनाधिकरूपमें नहीं—और सदा स्वात्माके सम्मुख रहती है—स्वात्माके ज्ञानसे कभी विमुख नहीं होती—और इस तरह जो स्व-पर-प्रकाशिका होती है। ऐसी बुद्धिका नाम ही सम्यग्ज्ञान है। यहाँ बुद्धि-के आत्म-सम्बन्धको समझनेकी प्रेरणा की गई है। आत्माके साथ बुद्धिका घनिष्ठ अथवा तादात्म्य सम्बन्ध है। बुद्धिके विना आत्मा और आत्माके विना बुद्धि नही होती। जो बुद्धिको आत्मरूपमें ग्रहण करता है, चाहे वह कितनी ही अल्प-विकसित अवस्थामें क्यों न हो, वह आत्माको ग्रहण करता है और एक दिन उसका अधिकाधिक विकास करनेमें समर्थ हो सकता है। प्रत्युत इसके, जो बुद्धिके आत्म-सम्बंधको नहीं समझता, बुद्धिको अचेतन पदार्थों का—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप भूतचतुष्कका—कार्य मानता है वह आत्मज्ञानसे शून्य है और इसलिए आत्मविकासको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

स्वसंवेदनके अतिरिक्त अन्यके त्यागका विधान

अहमेवाहमित्यात्म-ज्ञानादन्यत्र चेतनाम्[1]।
इदमस्मि करोमीदमिदं भुञ्ज इति क्षिपे ॥१८॥

('मैं ही मैं हूँ, इस आत्मज्ञानसे भिन्न अन्यमें 'यह मैं

१ चिन्तनाम्।

हूँ, मैं यह करता हूँ, मैं यह भोगता हूँ, इस प्रकारकी चेतना-चिन्तनाको (हे भाई !) तुम छोड़ो ।'

व्याख्या—यहाँ स्वात्माको अपने शुद्ध-स्वरूपमें स्थिर तथा दृढ करनेके लिये यह उपदेश दिया गया है कि वह 'एकमात्र मै ही मै हूँ—अन्य मै नहीं हूँ—इस आत्म ज्ञानसे भिन्न अन्यत्र—शरीरादिकमें—अपनी चेतनाको न भ्रमावे । अर्थात् 'यह शरीरादिक मै हूँ, शरीरादिकी अमुक क्रिया मैं करता हूँ, अमुक भोग मै भोगता हूँ' इस प्रकारकी चिन्तना अथवा विचारणाको छोड़े; क्योंकि इन प्रकारकी विचार-धाराएँ पर-पदार्थके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करती है और इस तरह अपने उस शुद्ध आत्मज्ञानमें बाधक होती हैं । इसीसे समाधितंत्रमें श्रीपूज्यपादाचार्यने कहा है कि—'आत्मज्ञानसे भिन्न अन्य कार्यको चिरकाल तक बुद्धिमें धारण नहीं करना चाहिये, यदि प्रयोजन-वश कुछ समयके लिये उसे वचन तथा कायसे करना भी पड़े तो अतत्परता-अनासक्तिके साथ करना चाहिये—आसक्त होकर नहीं:—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ।५०।।

इसी भावको पुष्ट करनेके लिये आचार्य महोदयने आगे यह भी लिखा है—

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

'इन्द्रियोंके द्वारा जो शरीरादिक मैं देखता हूँ वह भी मेरा रूप नहीं है। मेरा रूप तो वह परमानन्दमय उत्तम ज्योति है जिसे मैं इन्द्रियोंको नियन्त्रित करके अपने अन्तःकरणमें देखता हूँ, अथवा स्वसंवेदन-ज्ञानके द्वारा अनुभव करता हूँ।'

वस्तुतः शरीर तथा वचनमें आत्माकी धारणा वही करता है जो शरीर तथा वचनके विषयमें भ्रान्त है—उनके यथार्थ स्वरूपको न समझकर बहिरात्मदृष्टिसे उनमें आत्माकी कल्पना किये हुए है। जो अभ्रान्त है—अन्तरात्मा है—वह शरीर, वचन और आत्माके तत्त्वको अलग-अलग समझता है और इसलिये एकको दूसरेके साथ मिलाता नहीं है। जैसा कि समाधितन्त्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्-शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥ ५४ ॥

आत्म-ज्योतिके दर्शनकी प्रेरणा

अहमेवाहमित्यन्तर्जल्प-संपृक्त-कल्पनाम् ।
त्यक्त्वावाग्गोचरं ज्योतिः स्वयं पश्येदनश्वरम् ।१६

'मैं-ही मैं हूँ, इस अन्तर्जल्पके साथ सम्बद्ध कल्पनाको

छोड़कर वचनके अगोचर अनश्वर-ज्योतिका स्वय अवलोकन करना चाहिये ।'

व्याख्या—यहाँ पिछले पद्यमें दिये गये उपदेशको कुछ आगे बढ़ाया गया है और ऐसा भाव व्यक्त किया गया है कि('मैं ही मै हूँ' इस अन्तर्जल्प (भीतरी बातचीत) से सम्बद्ध आत्मज्ञानकी कल्पनामें ही न उलझे रहना चाहिये किन्तु उस आत्मज्योतिको स्वयं देखना भी चाहिये, जो कि अनिर्वचनीय होनेके साथ साथ कभी नाश न होनेवाली है । और इस तरह यहाँ स्वात्मदर्शन की भावनाको खास तौरसे प्रोत्साहन दिया गया है ।

आत्म-दर्शनका उपाय

यद्यदुल्लिखति स्वान्तं तत्तदस्वतया[1] त्यजेत् ।
तथा विकल्पानुदये दोद्योत्यात्माच्छचिन्मये ॥२०॥

'हृदय जिस-जिसका उल्लेख करता—चित्र खींचता—है उस-उसको अनात्माकी दृष्टिसे—यह आत्मा नहीं, ऐसा समझ कर—छोड़ना चाहिये । उस प्रकारके विकल्पोंके उदय न होने पर आत्मा अपने स्वच्छ चिन्मयरूपमें प्रकाशमान होता है ।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें जिस आत्मदर्शनकी प्रेरणा की गई है उसका प्रयत्न करते समय हृदय जो जो चित्र सामने

१ परवस्तुतया ।

उपस्थित करे उन सबको अनात्मा समझकर छोड़ते जाना चाहिये; जब हृदयमें उस प्रकारके विकल्पोंका उदय होना—चित्र खिंचना—रुक जाय तब आत्मा स्वयं अपने निर्मल चैतन्यस्वरूपमें प्रकाशित होता है। यह उसके दर्शनकी एक पद्धति है।

आत्मज्योतिकी दृश्यता और अदृश्यता

स विश्वरूपोनन्तार्थाकार-प्रसर-भूत्वतः ।
सोर्वाग्दृशाम[1]लक्ष्योपि लक्ष्यः केवल-चक्षुषाम् २१

'वह ज्योति अनन्त पदार्थोंके आकार-प्रसारकी भूमि होनेसे विश्वरूप है और छद्मस्थोंके लिये अदृश्य–अलक्ष्य होती हुई भी केवल-चक्षुओंसे लक्ष्य है—देखी जाती है।'

व्याख्या—जिस आत्म-ज्योतिके दर्शनकी प्रेरणादिका पिछले दो पद्योंमें उल्लेख है उसके विषयमें यहाँ यह प्रकट किया गया है कि 'वह ज्योति अनन्त पदार्थोंके आकार-प्रसारकी भूमि है—विश्वके सारे पदार्थ अपने पूर्ण आकारके साथ उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं—और इसलिये वह विश्वरूप है। ऐसी विश्वरूप ज्योति छद्मस्थोंके लिये प्रायः अदृश्य होती हुई भी केवल-ज्ञानियोंके चक्षुओंसे दृश्य है—स्पष्ट देखी जाती है।

---

[1] छद्मस्थानाम्।

आत्म-ज्योतिका लक्षण

तस्य लक्षणमन्तर्भाग[1]पयोगो ह्यहंतया ।
नित्यमन्यतया भाग्भ्यः[2]परेभ्यो[3]ऽन्यत्र लक्षणात् २२

'उस ज्योतिका लक्षण अहंताकी दृष्टिसे अन्तर्वर्ती उपयोग है; क्योंकि वह नित्य ही अन्यताकी दृष्टिसे लक्षित पृथग्भूत परपदार्थोंके--अचेतनद्रव्योंके--लक्षणोंसे भिन्न है ।'

व्याख्या—यहाँ उस आत्मज्योतिका लक्षण, जो पद्य नं० ४ के अनुसार अहंताकी दृष्टिसे लक्षित होती है, अन्तर्वर्ती उपयोग बतलाया है और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि यह लक्षण सदैव अन्यताकी दृष्टिसे लक्षित होनेवाले अचेतनद्रव्योंके लक्षणोंसे भिन्न है ।

छह द्रव्योंमें जीवद्रव्य ही एक ऐसा द्रव्य है जो चेतन-गुणसे विशिष्ट है और इसलिये दर्शन तथा ज्ञानरूप उपयोग उसीका लक्षण है । शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके द्रव्य अचेतन होनेके कारण इस उपयोग-लक्षणसे रहित हैं । उन द्रव्योंके दूसरे अलग अलग लक्षण हैं, जिन्हें आगे सूचित किया गया है । उपयोगका 'अन्तर्वर्ती' विशेषण आत्माके साथ उसके तादात्म्यका—आत्मभूतताका—सूचक है ।

---

१ पृथग्भूतः अन्तर भजतीति अन्तर्भाक् । २ पृथग्भूतेभ्यः कथंचित्
३ अचेतनद्रव्येभ्यः ।

लक्षण-भेदसे स्व-पर-भेदकी सिद्धि

ययो[1]र्लक्षणभेदस्तौ भिन्नौ तोयानलौ यथा।
सोऽस्ति च स्वात्म-परयोरिति सिद्धात्र युक्तिवाक् २३

'जिन दोमें परस्पर लक्षण-भेद होता है वे दोनों एक दूसरेसे भिन्न होते हैं; जैसे जल और अनल (अग्नि)। स्वात्मा और परमें वह लक्षणभेद है, इसलिये दोनों भिन्न हैं, यह युक्ति-वचन यहाँ सिद्ध है—प्रमाणसे बाधित नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ, लक्षण-भेदसे वस्तु-भेदके न्यायकी घोषणा करते हुए, यह प्रतिपादन किया है कि, चूँकि स्वात्मा और परद्रव्योंमें (पूर्वपद्यानुसार) लक्षण-भेद है और वह लक्षणभेद ऐसा है जैसा कि जल और अग्निमें—एक शीतलस्वभाव तो दूसरा उसके विपरीत उष्णस्वभाव—अतः दोनोंकी भिन्नता युक्ति-सिद्ध है।

उपयोगका स्वरूप और भेद

उपयोगश्चितः स्वार्थ-ग्रहण-व्यापृतिः[2] श्रुतेः।
शब्दगो दर्शनं ज्ञानमर्थगस्तन्मयः पुमान् ॥२४॥

'चिन्मय आत्माके स्व और अर्थके ग्रहणरूप व्यापार-को 'उपयोग' कहते हैं। श्रुतिकी दृष्टिसे शब्दगत उपयोग 'दर्शन' और अर्थगत उपयोग 'ज्ञान' कहलाता है। और पुरुष (आत्मा) तन्मय है—दर्शन और ज्ञानरूप है।'

[1] पुद्गल-जीवयोः। [2] कर्णस्य स्वार्थः शब्दः, तस्य ग्रहण व्यापार.।

व्याख्या—यहाँ उपयोगके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए श्रुति(कर्ण-विषय) की दृष्टिसे उसके दो भेद किये गये हैं—एक शब्दगत, जो शब्दको अपना विषय करे; और दूसरा अर्थगत, जो पदार्थको अपना विषय करे। शब्दगतको 'दर्शनोपयोग' और अर्थगतको 'ज्ञानोपयोग' कहते हैं और जीवात्माको दोनों उपयोगरूप प्रतिपादित किया गया है।

आत्मशुद्धिका मार्ग

अमुह्यन्तमरज्यन्तमद्विषन्तं च यः स्वयम्।
शुद्धे निधत्ते स्वे शुद्धमुपयोगं स शुद्ध्यति ॥२५॥

'जो (ध्यानी) पुरुष स्वयं अपने शुद्ध-आत्मामें राग, द्वेष तथा मोहसे रहित शुद्ध उपयोगको धारण करता है वह शुद्धिको प्राप्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ आत्माकी शुद्धिके प्रकारका निर्देश है और वह यह है कि, आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिन्तन करके—उसमें अपने शुद्ध उपयोगको लगानेसे—आत्माकी शुद्धि होती है। शुद्ध उपयोग वह कहलाता है जो राग, द्वेष और मोहसे रहित होता है। राग द्वेष और मोह, ये अशुद्धिके बीज हैं; इनसे उपयोग मलिन होता है और ऐसे मलिन उपयोगको धारण करनेसे आत्माकी शुद्धि नहीं बनती। अतः आत्माको यदि शुद्ध करना है तो अपने उस उपयोगसे, जिसे शुद्धात्माके प्रति लगाना है, राग-द्वेष-

मोहको निकालकर अलग करदेना चाहिये; तभी शुद्धात्माके सम्पर्कमें आनेसे अपना आत्मा शुद्ध हो सकेगा।

अशुद्धि-हेतु रागादिकके विनाशका उपाय

भावयेच्छुद्धचिद्रूपं स्वात्मानं नित्यमुद्यतः।
रागाद्युदग्र-शत्रूणामनुत्पत्त्यै क्षयाय च ॥२६॥

'रागादि अति उग्र शत्रुओंकी अनुत्पत्ति और विनाशके लिये नित्य ही उद्यमी होकर शुद्ध-चिद्रूप-स्वात्माकी भावना करनी चाहिये।'

व्याख्या—राग, द्वेष और मोह आत्माके अतीव उग्र शत्रु हैं; ये उत्पन्न नहीं होवें और यदि कदाचित् उत्पन्न होवें तो इनका शीघ्र ही नाश हो जावे, इसके लिये बड़ी तत्परताके साथ शुद्ध-चिद्रूप-स्वात्माको अपनी नित्यकी भावनाका विषय बनाना चाहिये—ध्यानमें नित्य ही आत्माके शुद्ध-चिद्रूपको सामने लाते रहना चाहिये। यह आत्म-शत्रुओंकी अनुत्पत्ति तथा नाशका परम उपाय है। इन रागादिकका संक्षिप्त परिचय अगले पद्यमें दिया गया है।

राग, द्वेष और मोहका स्वरूप

रागः प्रेम रतिर्माया लोभं हास्यं च पंचधा।
मिथ्यात्वभेदयुक् सोपि मोहो द्वेषः क्रुधादिषट् २७

१ स्त्रीपुंन्नपुंसकवेदरूपम्। २ क्रोधमानाऽरति-शोकभयजुगुप्साः।

'प्रेम (त्रिवेदरूप-परिणति), रति, माया, लोभ और हास्यके भेदसे राग पाँच प्रकारका है, दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व-भेदसे युक्त वही राग 'मोह' कहलाता है और क्रोधादिके भेदसे द्वेष छह प्रकारका है।'

व्याख्या—जिन राग, द्वेष और मोहको आत्माका परम शत्रु बतलाया गया है और जिनकी चर्चा ग्रंथमें अब तक चली आई है उनका क्या स्वरूप है अथवा विषयरूपसे उनमें क्या कुछ शामिल है उसीका निर्देश इस पद्यमें किया गया है। राग पाँच भेदरूप है—प्रेम, रति, माया, लोभ और हास्य। इनमें माया और लोभ ये दो तो कषाय हैं, शेष प्रेमादि तीन नो (ईषत्) कषाय हैं। प्रेमका आशय यहाँ स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकरूप तीन वेदोंमेंसे किसी भी वेदरूप परिणतिका है। द्वेष छह भेद रूप है—क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा। इनमेंसे पहले दो भेद कषायरूप और शेष नोकषायरूप हैं। मोह उस रागका नाम है जो दर्शनमोहके मिथ्यात्वभेदसे युक्त होता है। इसीसे मोहको 'मिथ्यादर्शन' भी कहा जाता है, जैसा कि तत्त्वानुशासनके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते"।

इसतरह राग द्वेष और मोह इन तीन भेदोंमें प्रायःसारे

ही मोहनीयकर्मका भाव समाविष्ट होजाता है*, जो कि आत्माका सबसे बड़ा शत्रु है, जिसने आत्माके विकासको रोक रक्खा है और जिसे स्वामी समन्तभद्र "अनन्त-दोषाशय-विग्रहो ग्रहो विषंगवान् मोहमयश्चिरं हृदि" जैसे शब्दोंके द्वारा उल्लेखित करते हैं।

राग-द्वेषरूप प्रवृत्तिका फल

सर्वत्राऽर्थादुपेक्ष्येऽपि इदं मे हितमित्यधीः।
गृह्णन् प्रीये[1]ऽहितमिति श्रयन् दूये[2]ऽत्र कर्मभिः २८

'वस्तुतः राग और द्वेष सर्वत्र उपेक्षाके योग्य होने पर भी, अज्ञानी जीव कर्मोंसे प्रेरित होकर 'यह मेरा हित है' ऐसा मानता हुआ किसी वस्तुमें प्रीति (राग) करता और 'यह मेरा अहित है' ऐसा समझता हुआ किसी पदार्थमें अप्रीति (द्वेष) धारण करता है, और इस तरह कर्मोंसे पीड़ित होता है।'

व्याख्या--राग और द्वेष दोनों बन्धके कारण होनेसे मुमुक्षुओंके द्वारा सदा उपेक्षा किये जाने एवं त्यागनेके योग्य हैं, फिर भी अज्ञानी जीव परपदार्थोंमें हित-अहितकी कल्पना करके किसीमें राग और किसीमें द्वेष धारण करते

---

* श्रीरामसेनाचार्यने भी, तत्त्वानुशासनमें, निम्नवाक्यके द्वारा इसी भावको सूचित किया है:—

"ताभ्यां (राग-द्वेषाभ्यां) पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः।"

१ प्रीतिं करोति। २ पीड्यते।

हैं, फलतः अनेक प्रकारके कर्मबन्धनोंसे बँधकर अन्तको दुखी होते हैं।

कर्मजनित सुख-दुःखकी कल्पना अविद्या है

बन्धतः सुगतौ स्वार्थैः सुखाय दुर्गतौ मुहुः।
दुःखाय चेत्यविद्यैव मोहाच्छेद्याद्य विद्यया ॥२६

'सुगतिका बन्ध होनेसे उसमें इन्द्रियोंके विषयों-द्वारा बार-बार सुखकी प्राप्ति होती है, और दुर्गतिका बन्ध होनेसे उसमें बार-बार दुखकी प्राप्ति होती है, ऐसा समझना मोहके कारण—मोहके उदयवश—अविद्या ही है। यह अविद्या अब विद्यासे छेदन की जानी चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ कर्मबन्धको सुगतिकी प्राप्ति होने-पर इन्द्रिय-विषयोंके लाभसे सुखका कारण और दुर्गतिकी प्राप्ति होनेपर इन्द्रिय-विषयोंके अलाभसे दुखका कारण माननेको अविद्या बतलाया है और उस अविद्याका कारण मोह ठहराया है; क्योंकि मोहके उदयवश ही यह अज्ञानी प्राणी बंधनको भी, जिसमें पराधीनता होती है, सुखका हेतु समझता है, परपदार्थोंको सुख-दुखका दाता मानता है और इन्द्रिय-विषयोंको भी सुखरूप समझता है; जब कि वे वास्तवमें सुखरूप नहीं हैं; जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

सपर बाधासहिय विच्छिण्ण बधकारण विसम।
ज इदिएहिं लद्धं त सव्व दुक्खमेव तहा॥ (प्रवचनसार ७६)

इसीसे सम्यग्दृष्टि ऐसे अवास्तविक सुखमें अनास्था रखता हुआ उसकी आकांक्षा नहीं करता, जो कर्माधीन है, अन्तसहित है, उदयकालमें दुखसे अन्तरित है और पापका बीज है* ।

उक्त अविद्याको यहाँ विद्यासे—यथार्थ वस्तुस्थिति-के परिज्ञानरूप सम्यग्ज्ञानसे अथवा उस उपेक्षा नामकी विद्यासे जिसका पद्य ४२ मे उल्लेख है—छेदन करने-की प्रेरणा की गई है ।

निश्चयसे आत्मा सच्चिदानन्दरूप है

निश्चयात् सच्चिदानन्दाद्वयरूपं तदस्म्यहम् ।
ब्रह्मेति सतताभ्यासाल्लीये स्वात्मनि निर्मले ॥३०

'निश्चयनयसे जो सत् चित् और आनन्दके साथ अद्वैतरूप ब्रह्म है वह मै ही हूँ, इस प्रकारके निरन्तर अभ्याससे ही मैं अपने निर्मल आत्मामें लीन होता हू ।'

व्याख्या—यहाँ अपने शुद्ध-स्वात्मामें लीन होनेकी पद्धतिका कुछ निर्देश है और वह इतना ही है कि निरन्तर इस प्रकारके अभ्यासको बढ़ाया जावे कि निश्चयनयकी दृष्टिसे जो सत्, चित् और आनन्दसे अभिन्न रूप ब्रह्म है वह मै ही हूँ—मेरे सच्चिदानन्दरूपसे कथित ब्रह्मका रूप अलग नहीं है और न इस रूपसे भिन्न ब्रह्म नामकी कोई अलग वस्तु

* समीचीनधर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) १२ ।

ही है। मेरे इस शुद्धरूपका ही ब्रह्मके साथ अद्वैतभाव है। अर्थात् मैं ही अपने शुद्ध स्वरूपमें परम ब्रह्मरूप हूँ।

इस अद्वैत-दृष्टिके विषयमें श्रीरामसेनाचार्यने तत्त्वानुशासनमें स्पष्ट लिखा है—

आत्मानमन्य-सपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयं ॥१७७॥

'जो आत्माको अन्यसे—कर्मादिकसे—सम्बद्ध देखता है वह द्वैतको देखता है—आत्माको जड-चेतनादि द्वैतरूपमें अनुभव करता है—और जो आत्माको दूसरे सब पदार्थोंसे विभक्त एवं भिन्न देखता है वह अद्वैतको देखता है—आत्माको एक ही सच्चिदानन्दरूपमें सर्वत्र अनुभव करता है, और इसलिये अपनेको सच्चिदानन्द-लक्षणसे भूपित ब्रह्म समझता है।'

आत्माके सत्स्वरूपका स्पष्टीकरण

सन्नेवाहं मया वेद्यः स्वद्रव्यादि-चतुष्टयात्।
स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मत्वादसन्नेव विपर्ययात् ॥२१

'स्वद्रव्यादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे—स्वकीय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे—तथा (प्रतिक्षण) स्थित्यात्मक, उत्पत्त्यात्मक और व्ययात्मक होनेकी दृष्टिसे मैं सत्‌रूप ही हूँ; प्रत्युत इसके, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा तथा प्रतिक्षण स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मक न होनेकी दृष्टिसे मैं

असत्‌रूप ही हूँ; ऐसा मैं अनुभव करता हूँ।'

व्याख्या—यहाँ आत्माके सत् और असत् रूपकी दृष्टिको स्पष्ट करके बतलाया गया है। सत्‌की दो दृष्टियाँ हैं—एक स्वद्रव्यादि-चतुष्टयकी और दूसरी प्रतिक्षण-ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मक होनेकी। इन दोनों दृष्टियोंसे जो रहित है—परद्रव्यादि-चतुष्टयकी दृष्टिको लिये हुए है अथवा प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मक नहीं है—वह असत् है। तत्त्वार्थसूत्रमें 'सद्द्रव्यलक्षणम्' सूत्रके द्वारा द्रव्यमात्रका सामान्य लक्षण 'सत्' देकर फिर उस सत्‌का लक्षण ही 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' दिया है। और स्वामी समन्तभद्रने देवागममें साफ लिखा है:—

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥

अर्थात्—सर्वद्रव्य स्वरूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे सत्-रूप ही हैं और पररूपादि चतुष्टयकी दृष्टिसे असत्‌रूप ही हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो सत् और असत् दोनोंमेंसे किसीकी भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

स्वामीजीके इस वाक्यको लेकर ही रामसेनाचार्यने तत्त्वानुशासनमें निम्न वाक्यकी सृष्टि की है—

सन्नेवाऽहं सदाऽप्यस्मि स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असन्नेवाऽस्मि चात्यन्तं पररूपाद्यपेक्षया ॥१५४॥

अनादि-सन्ततिसे उसी प्रकारकी अपनी चेतन-पर्यायोंके द्वारा परिवर्तित हो रहा हूँ—अर्थात् प्रतिक्षण पूर्वपर्यायसे नष्ट और उत्तरपर्यायसे उत्पन्न होता हुआ भी चैतन्यरूपसे सदा स्थिर चेतनामय बना हुआ हूँ।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें आत्माने अपनेको चेतन द्रव्यके रूपमें अनुभव किया है, जो कि एक सामान्यदृष्टि है। इन पद्योंमें वह अपने आत्मद्रव्यकी अनादि-सन्ततिमें चली आई क्रमवर्ती चेतन-पर्यायोंको लक्ष्य करके अपनेको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके रूपमें अनुभव कर रहा है, जो कि एक विशेष दृष्टि है। इस दृष्टिमें उसे यह भी प्रतिभासित हो रहा है कि द्रव्यमात्र प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है—कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं जो किसी समय द्रव्यके इस सत्-लक्षणसे रहित हो *। वह विषयकी स्पष्टताके लिये उदाहरणके रूपमें किसी एक प्रसिद्ध अथवा प्रमाणसिद्ध द्रव्यको, जैसे सुवर्णनामके पुद्गलद्रव्यको, अपनी कल्पनामें लेता है और देखता है कि सुवर्णकी डलीसे जिस समय कंकण बनाया जा रहा है उस समय डली-रूपके नाशसे सुवर्णका नाश नहीं हो रहा है और न कंकणरूपके उत्पादसे कोई नया सुवर्ण ही उसमें आरहा है; बल्कि वही पीतादिगुण-विशिष्ट सुवर्ण है जो पहले डली, सरी आदिके रूपमें स्थित

* सद्द्रव्य-लक्षणम्। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्॥ (तत्त्वार्थ०)

था। इस तरह सुवर्णद्रव्य अपने गुणोंकी दृष्टिसे ध्रौव्य और पर्यायोंकी दृष्टिसे व्यय तथा उत्पादके रूपमें लक्षित होता है। और यह सब एक ही समयमें घटित हो रहा है। व्यय और उत्पादका समय यदि भिन्न-भिन्न माना जायगा तो द्रव्यके सत्रूपकी कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी; क्योंकि एक पर्यायके व्यय-के समय यदि दूसरी पर्यायका आविर्भाव नहीं हो रहा है तो द्रव्य उस समय पर्यायसे शून्य ठहरेगा और द्रव्यका पर्यायसे शून्य होना गुणसे शून्य होनेके समान उसके अस्तित्वमें बाधक है। इसीसे द्रव्यका लक्षण गुण-पर्याय-वान् भी कहा गया है, जो प्रत्येक समय उसमें पाया जाना चाहिये—एक क्षणका भी अन्तर नहीं बन सकता। एक समयका भी अन्तर द्रव्यके अभावका सूचक होगा और तब उत्पाद भी सर्वथा असत्का उत्पाद कहलाएगा और इसलिये नहीं बन सकेगा। द्रव्यकी पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय-के उत्पादमें कारण पड़ती है, जब पूर्वपर्यायका पूर्वक्षणमें ही नाश हो गया और उत्तरक्षणमें उसका अस्तित्व नहीं रहा तब उत्पादके लिये कोई कारण भी नहीं रहता। अतः प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य तीनों एक क्षणवर्ती हैं, आत्मा भी चूँकि द्रव्य है इसलिये उसमें भी ये प्रतिक्षण पाये जाते हैं, इसमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं है।

द्रव्य-गुण-पर्यायके लक्षण तथा जीव-गुण

*** गुण-पर्याय-वद्द्रव्यं गुणाः सहभुवोन्यथा[1] ।**
पर्यायास्तत्र चैतन्यं गुणः पुंस्य[2]न्वयित्वतः[3] ॥३६॥

'जो द्रव्य है वह गुण-पर्यायवान् है। जो सहभावी हैं वे गुण हैं, जो सहभावी न होकर क्रमभावी हैं वे पर्याय हैं। पुरुषमें—जीवात्मामें—चैतन्य गुण है; क्योंकि वह अन्वयी है—जीवके साथ सदा रहता है, कभी उससे अलग नहीं हो सकता।'

व्याख्या—इस पद्यके प्रथम चरणमें द्रव्यका लक्षण तत्त्वार्थसूत्रके शब्दोंमें गुण-पर्यायवान् दिया है; फिर गुणोंका लक्षण सहभावी और पर्यायोंका लक्षण क्रमभावी देकर जीवात्माका गुण चैतन्य प्रकट किया है, जो कि उसका असाधारण अथवा विशेष गुण है और किसी भी काल तथा क्षेत्रमें उससे पृथक् नहीं होता।

शेष द्रव्योंके गुण तथा अर्थपर्यायका स्वरूप

रूपित्वं पुद्गले धर्मे गत्युपग्राहिता तयोः[4] ।
स्थित्युपग्राहिताऽधर्मे परिणेतृत्व-योजना ॥३७॥

---

* सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः ।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ॥११४॥ (तत्त्वानु०)

१ क्रमभुव पर्यायाः । २ आत्मनि । ३ अनुगामित्वात् ।
४ जीव-पुद्गलयोः ।

सर्वत्र[1]काले सर्वेषां खेऽवगाहोपकारिता ।
सर्वेषामर्थ-पर्यायः सूक्ष्मः प्रतिक्षण-क्षयी ॥३८॥

'पुद्गलद्रव्यमें रूपित्व-गुण, धर्मद्रव्यमें जीव-पुद्गल दोनोंके प्रति गत्युपकारिता-गुण, अधर्मद्रव्यमें दोनोंके प्रति स्थित्युपकारिता-गुण, कालमें सर्वत्र परिणतृत्व-गुण और आकाशमें सब द्रव्योंके प्रति अवगाहोपकारितागुण है । सर्व द्रव्योंकी अर्थ-पर्याय सूक्ष्म है और प्रतिक्षण विनश्वर है ।'

व्याख्या—इन दो पद्योंमें शेष पाँच द्रव्योंके विशेष गुणोंका उल्लेख है; जैसे पुद्गलमें रूपित्व, धर्मद्रव्यमें जीव-पुद्गलकी गतिमें सहकारिता, अधर्ममें दोनोंकी स्थितिमें सहकारिता, कालमें परिणतृत्व और आकाशमें सब द्रव्यों-की अवगाहनामें सहकारिता नामका गुण है । साथ ही, पर्यायोंका उल्लेख करते हुए उन्हें मुख्यतः दो भागोंमें बांटा है—एक अर्थपर्याय और दूसरी व्यंजनपर्याय । अर्थपर्यायके विषयमें लिखा है कि वह सभी द्रव्योंकी सूक्ष्म-पर्याय है और क्षण-क्षणमें नाश होनेवाली है ।

जीव-पुद्गलकी व्यजनपर्याय

वाग्गम्योऽनश्वरः स्थेयान्मूर्तो व्यंजनपर्ययः ।
जीव-पुद्गलयोर्द्रव्यं तन्मयं ते च तन्मयाः ॥३९॥

---

[1] घटनाकाले ।

'जीव-पुद्गलकी व्यंजनपर्याय वाग्गोचर है, नश्वर न होकर स्थिर है और मूर्तिक है। प्रत्येक द्रव्य अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय-मय है और वे पर्यायें द्रव्य-मय हैं।'

व्याख्या—इस पद्यमें जीव और पुद्गल द्रव्योंकी व्यंजनपर्यायका उल्लेख है और यह प्रकट किया है कि वह पर्याय वचनगोचर है, क्षणभंगुर न होकर टिकनेवाली है और मूर्तिक है। साथ ही, यह भी व्यक्त किया है कि प्रत्येक द्रव्य इन दोनों पर्यायरूप होता है और ये पर्यायें द्रव्यके साथ तन्मय होती हैं—उससे अलग नहीं होतीं।

मुक्ताहारके रूपमे आत्माकी भावना

चेतनोऽहमिति द्रव्ये शौक्ल्यं मुक्ताश्च हारवत्।
चैतन्यं चिद्विवर्तांश्च[1] मय्या[2]मील्य मिलाम्यजे ४०

'जिस प्रकार हारमें हारकी, मोतियोंकी और शुक्लताकी पृथक् पृथक् प्रतीति होते हुए भी वे सब हार-मय हैं, उसी प्रकार आत्मद्रव्यमें 'मैं चेतन हूँ, मुझमें चैतन्य है और चेतन-पर्यायोंको अभिव्याप्त करके मैं अजरूप आत्मद्रव्यमें मिल रहा हूँ—तन्मय हो रहा हूँ, ऐसी प्रतीति होती है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्ताहारके रूपमें आत्माकी अनुभूति की गई है। मुक्ताहारमें जैसे मोती और मोतियोंमें शुक्लता

---

१ ज्ञान पर्यायान् २ आत्मद्रव्ये।

गुण होता है उसी प्रकार चेतनद्रव्य-आत्मामें चिदात्मक पर्यायें और पर्यायोंमें चैतन्यगुण रहता है, और ये सब हारस्थानीय आत्मद्रव्यके साथ तन्मय होकर मिले हुए हैं और आत्मद्रव्य इनके साथ तन्मय हो रहा है।

आत्माके आनन्द-स्वरूपका स्पष्टीकरण

* यश्चक्रीन्द्राहमिन्द्रादि-भोगिनामपि जातु न।
शश्वत्सन्दोहमानन्दा मामेवाभिव्यनज्मि[1]तम् ।४१

'जो आनन्द चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र और धरणेन्द्रको भी कभी प्राप्त नहीं होता उस शाश्वत आनन्द-सन्दोहको मैं अपनेमें ही अनुभव करता हूं।'

व्याख्या—यहाँ आत्माके दूसरे विशेषगुण 'आनन्द'-का उल्लेख है, जो आत्माके चैतन्यगुणकी तरह अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं पाया जाता। शुद्ध-स्वात्मा अपनेमें ही उस आनन्द-गुणका चिन्तन करता हुआ यह अनुभव करता है कि ऐसा शाश्वत आनन्द तो कभी चक्रवर्ती तथा इन्द्र-अहमिन्द्रादिको भी प्राप्त नहीं होता। उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है वह सब इन्द्रिय-जन्य तथा पराधीन है और यह अतीन्द्रिय तथा स्वाधीन है। इससे स्पष्ट है कि

* यदत्र चक्रिणां-सौख्य यच्च स्वर्गे दिवौकसाम्।
कलयापि न तत्तुल्य सुखस्य परमात्मनाम् ॥२४६ (तत्त्वानु०)

१ अनुभवामि।

आत्माको जब अपने शुद्ध-स्वरूपकी अनुभूति हो जाती है तब उसे कितने अधिक सुखकी प्राप्ति होती है, जिससे सारे ही लौकिक सुख फीके पड़ जाते हैं।

आत्म-विकासका क्रम

अविद्यां विद्यया मय्याप्युपेक्षा-संज्ञयाऽसकृत्।
कृन्ततो मदभिव्यक्तिः[1] क्रमेण स्यात्परापि मे ४२

'मुझमें जो अविद्या–अज्ञता विद्यमान है उसे उपेक्षा नामकी विद्यासे निरन्तर काटते हुए मुझमें मेरे स्वरूपकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) होती है और यह अभिव्यक्ति क्रम-क्रमसे परा अर्थात् चरम-सीमाको भी प्राप्त हो जाती है।'

व्याख्या—जब स्वात्मा अपनेमें चैतन्य और आनन्द-जैसे सातिशय-गुणोंके अस्तित्वका अनुभव करता है और फिर यह देखता है कि उन गुणोंका यथेष्ट विकास नहीं हो रहा है तब वह उसका कारण अपनी अविद्याको पाता है और उस अविद्याके छेदनेका उपाय सोचता है। उसी उपायकी चिन्ता एवं कार्यरूप-परिणतिका इस पद्यमें उल्लेख है। अविद्याको जिस विद्यासे छेदा जाता है उसका नाम है 'उपेक्षा'। उपेक्षा रागादिके अभावको कहते हैं। जितनी उपेक्षा बढ़ती जायगी अविद्या उतनी ही घटती

1 मम प्रकटता।

जायगी और उसीके अनुसार आत्माके गुणोंका विकास भी सधता जायगा, जो किसी समय अपनी उत्कृष्टावस्थ अथवा चरमसीमाको भी पहुँच जायगा। यही सब भाव इस पद्यमें संनिहित है।

द्रव्य और पर्याय-दृष्टिसे आत्माकी एकानेकता

समस्तवस्तुविस्ताराकारकीर्णोऽपि पर्ययात्[1] ।
द्रव्यार्थादेक एवास्मि वाच्यः[2]कस्यापि नार्थतः[3] ॥

'पर्यायदृष्टिसे समस्त वस्तुओंके विस्ताराकारसे पूर्ण होता हुआ भी मै द्रव्यदृष्टिसे एक ही हूँ और वस्तुतः (निश्चयतः) किसी भी शब्दका वाच्य नहीं हूँ—वचनके अगोचर हूँ।'

व्याख्या—यहाँ स्वोन्मुख हुआ आत्मा सोचता है कि यद्यपि अनादिकालीन अनन्तपर्यायोंकी दृष्टिसे मैं समस्त वस्तुओंके विस्तार-जितने आकारोंको लिये हुए हू फिर भी द्रव्यदृष्टिसे मैं एक ही हू—सब पर्यायोंमें एक ही द्रव्यरूपसे रहा हूँ। इसलिये वस्तुतः मेरा वाचक ऐसा कोई भी शब्द नहीं है जो मुझे पूर्णरूपमें प्रस्तुत या उपस्थित कर सके। और इस दृष्टिसे मैं अनिर्वचनीय हू।

१ व्यवहारात्। २ वचनगोचरः। ३ निश्चयात्।

आत्मसंस्कारका उपाय

तदेव[1] तस्मै कस्मैचित्परस्मै ब्रह्मणेऽमुना ।
सूक्ष्मेनेदं मनः शब्दब्रह्मणा संस्करोम्यहम् ॥४४॥

'अतएव उस अनिर्वचनीय किसी परब्रह्मकी—परमोत्कृष्ट आत्मपदकी—प्राप्तिके लिये इस सूक्ष्म शब्द-ब्रह्मके द्वारा—'सोऽहं' इस प्रकारके अन्तर्जल्पसे—मैं इस मनको संस्कारित करता हूँ ।'

व्याख्या—उक्त स्थितिमें आत्मा परब्रह्मपदकी प्राप्तिके लिये अपने मनको 'सोऽहं' इस सूक्ष्म शब्दब्रह्मके द्वारा संस्कारित करता है, उसीके संकल्पका इस पद्यमें उल्लेख है।

परंज्योतिका स्पष्टीकरण

हृत्सरोजेऽष्टपत्रेऽधोमुखे द्रव्यमनो[2]ऽम्बुजे ।
योगार्क-तेजसा बुद्धे स्फुरन्नस्मि परंमहः ॥४५॥

'आठ पत्रोंवाले अधोमुख द्रव्यमनरूप कमलमें, योगरूप सूर्यके तेजसे विकसित हृदय-कमलके भीतर स्फुरायमान परंज्योति-स्वरूप मैं हूँ ।'

व्याख्या—सूक्ष्म शब्द-ब्रह्मरूप 'सोऽहं' की भावनासे अपने मनको संस्कारित करते हुए ध्यानावस्थामें आत्मा

---

१ तस्मात्कारणात् । २ गुण-दोष-विचार-स्मरणादि-प्रणिधानमात्मनोभावमनस्तदभिमुखस्यास्यैवाऽनुग्राहि-पुद्गलोच्चयो द्रव्यमनः ।

यह अनुभव करता है कि आठ पत्रोंवाला अधोमुख द्रव्य-मनरूप कमल योगात्मक (ध्यानरूप) सूर्यके तेजसे खिल गया है और उसमें जिस परंज्योतिरूप प्रकाशका दर्शन हो रहा है वह मैं हू।

ध्वस्ते मोहतमस्यन्तर्दृशाऽस्तेऽक्ष-मनोऽनिले।
शून्योप्यन्यैः स्वतोशून्यो मया दृश्येयमप्यहम्॥४६॥

'मोहान्धकारके नष्ट होने और इन्द्रिय तथा मनरूप वायुका संचार रुकने पर यह अन्योंसे शून्य तथा स्वतः अशून्य मैं ही अन्तर्दृष्टिसे मेरे द्वारा दिखाई दे रहा हूँ।'

व्याख्या—जब मोहान्धकार नष्ट होता है और इन्द्रियों तथा मनका व्यापार रुकता है तब कुछ क्षणोंके लिये अन्तर्दृष्टिसे आत्माके द्वारा ही आत्माका वह शुद्ध स्वरूप दिखाई पड़ता है जो अन्य परपदार्थोंसे शून्य होते हुए भी अपने सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे शून्य नहीं, किन्तु परिपूर्ण है। इसी दृश्यको यहाँ ध्यानमग्न आत्मा देख रहा है। इस विषयमें तत्त्वानुशासनके निम्न पद्य ध्यानमें लेने योग्य हैं:—

तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यन्नकिंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः॥१७२॥
अतएवाऽन्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याऽशून्य-स्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते॥१७३॥

इनमें बतलाया है कि 'जब स्वरूपमें लीन हुआ योगी

एकाग्रताको नहीं छोड़ता है तब उस परम-एकाग्रताके कारण आत्मामें स्वात्माको ही देखते हुए, बाह्य पदार्थोंके होते हुए भी अन्य कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता (यह अवस्था मोहान्धकारके नष्ट होने तथा इन्द्रिय और मनो-व्यापारके रुकने पर होती है)। अतएव अन्यसे शून्य होता हुआ भी आत्मा स्वरूपसे शून्य नहीं होता, और यह शून्याऽशून्य स्वभाव आत्माके द्वारा ही उपलब्ध होता है।'

आत्मानुभूतिका उपाय

***मामेवाऽहं तथा पश्यन्नैकाग्र्यं परमश्नुवे।**
भजे मत्कन्दमानन्दं[१] निर्जरा-संवरावहम् ॥४७॥

'उपर्युक्त प्रकारसे अपने आपको ही देखता हुआ मैं परम-एकाग्रताको प्राप्त होता हूँ और निर्जरा संवर दोनोंको प्राप्त होनेवाले आत्मोत्थ-आनन्दको भोगता हूँ—और इस दृष्टिसे संवर तथा निर्जरारूप मैं ही हूँ।'

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकारसे अपनेमें ही अपना दर्शन करता हुआ आत्मा परम-एकाग्रताको प्राप्त होता है और आत्माधीन आनन्दको भोगता है, जिसके फल-स्वरूप वह निर्जरा तथा संवर दोनोंका भागी होता है, अर्थात् उसके

---

* तमेवाऽनुभवश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम् ॥१७० (तत्त्वानु०)

१ मत्सम्भवं आत्मोत्थमिति यावत्।

पूर्व-संचित कर्मोंकी जहाँ निर्जरा होती है वहाँ नवीन कर्मों-का आना (आस्रव) भी रुक जाता है और इस तरह उसका आत्म-विकास सहज ही सधता है। इसी तत्त्वको आत्मा यहाँ अपने अनुभवमें ला रहा है।

जिस स्वात्माधीन आनन्दका यहाँ उल्लेख है उसे तत्त्वा-नुशासनमें वचनके अगोचर बतलाया है, और यह ठीक ही है; इन्द्रियोंकी पराधीनताको लिये हुए जो सुख है वही वचनके गोचर होता है, अतीन्द्रिय सुखका वर्णन वचन क्या कर सकता है? उसका तो कुछ संकेतमात्र ही किया जा सकता है; जैसा कि प्रस्तुत ग्रंथके ४१वें पद्यमें किया गया है कि 'वह आनन्द ऐसा है जो चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र और धरणेन्द्रको भी कभी प्राप्त नहीं होता'।

रही निर्जरा और संवरकी बात, वे तो धर्म्य-ध्यानका फल ही हैं, इस बातको तत्त्वानुशासनमें 'एकाग्रचिन्तनं ध्यानं निर्जरा-संवरौ फलं' (३८) इस वाक्यके द्वारा व्यक्त किया गया है।

पिछली भूलका सिंहावलोकन

अनन्तानन्तचिच्छक्ति-चक्रयुक्तोपि तत्त्वतः[1]।
अनाद्यविद्या-संस्कारवशादक्षैर्बहिः स्फुरन् ॥४८

१ शुद्धनिश्चयनयापेक्षया।

यदा यदाधितिष्ठामि तदा तत्स्वतया वपुः।
विद्वांस्त¹द्वृद्धिहानिभ्यां²स्वस्य मन्ये चयक्षयौ ४६

'वस्तुतः—शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे—अनन्तानन्त चैतन्यशक्तिके चक्रसे युक्त होते हुए भी मैंने अनादि-अविद्याके संस्कारवश इन्द्रियों-द्वारा स्फुरायमान होकर जब जिस शरीरको अधिकृत किया है तब उस शरीरको अपना स्वरूप माना है और उसकी वृद्धि-हानिसे अपनी वृद्धि-हानि समझी है।'

व्याख्या—इन दो पद्यों तथा अगले पद्यमें भी स्वात्मा अपनी पिछली भूलका सिंहावलोकन कर रहा है। वह सोच रहा है कि—'अनादिकालसे देहादिकमें आत्माकी भ्रान्तिरूप अविद्याके संस्कारवश मै इन्द्रियोंके द्वारा ही स्फुरित हो रहा हूँ—बाह्य-पदार्थोंके ग्रहणमें प्रवृत्ति करता रहा हूँ—और इसलिये मैंने जब जब जिस पर्याय-शरीर-को धारण किया है तब तब उस पर्याय-शरीरको ही आत्मा माना है—मनुष्य-शरीरमें स्थित होकर मैंने अपने को मनुष्य, तिर्यंच-शरीरमें स्थित होकर तिर्यंच, देव-शरीरमें स्थित होकर देव और नारक-शरीरमें स्थित होकर अपनेको नारकी माना है। साथ ही, उन शरीरोंमें जब

१ ज्ञातवान् । २ तस्य वपुषो वृद्धिश्च हानिश्चताभ्यां

जब पौष्टिक पदार्थोंके संयोगसे कुछ वृद्धि और रोगादिके कारण कोई हानि हुई तब तब उस वृद्धि-हानिको भी मैंने अपने आत्माकी ही वृद्धि-हानि समझा है। यह मेरी भारी भूल रही है; क्योंकि मैं वस्तुतः उन शरीरादिरूप नहीं हूं जो कि जड़ तथा क्षणभंगुर हैं। मैं तो उस अनन्तानन्त-चैतन्य-शक्तिसे युक्त हूँ जिसकी स्थिति कभी डांवाडोल नहीं होती।' इसी भावको श्रीपूज्यपादाचार्यने अपने समाधितंत्र में निम्न वाक्योंके द्वारा स्पष्टरूपसे व्यक्त किया है—

वहिरात्मेन्द्रिय-द्वारैरात्म-ज्ञान-पराङमुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्वेनाऽध्यवस्यति ॥७॥
नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यंच तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥६॥

दारादिवपुरप्येवं तदात्माधिष्ठितं विदन्।
तदात्मत्वेन[१] तत्सौख्य-दुःखे संविभजे पुरा ॥५०॥

'इसी प्रकार स्वस्त्री आदिके आत्मा-द्वारा अधिष्ठित शरीरको भी उनका आत्मा समझते हुए मैंने पहले तज्जनित उनके सुख और दुखमें भले प्रकार भाग लिया है—उनमें आत्मीयताकी कल्पना कर उनके सुख-दुखको अपना सुख-दुख समझकर भोगा है।'

---
१ स्वकीयत्वेन।

व्याख्या—यहाँ भी स्वात्मा अपनी उसी भूलके विषय-में सोच रहा है कि—जिस प्रकार मैंने अपने द्वारा धारण किये हुए पर्याय-शरीरको पहले अपना आत्मा समझा है उसी प्रकार स्त्री-पुत्रादिके द्वारा धारण किये हुए उनके अचेतन पर्याय-शरीरको भी उनका आत्मा समझा है * और शारीरिक दृष्टिसे उन्हें अपना माननेके कारण उनके शरीर-जन्य सुख-दुःखोंका भी मैं भागी रहा हूँ। यह भी मेरी पिछली भूल थी, जिसे अब आत्माका ज्ञान प्राप्त होने पर मैंने भले प्रकार समझा है।

भूल-भ्रान्तिकी निवृत्तिपर आनन्दका अनुभव

सम्प्रत्यात्मतयात्मानं देहं देहतयात्मनः।
परेषां[1] च विदन् साम्यसुधां चर्वन्न[2]विक्रियाम् ॥५१

'अब मैं अपने तथा दूसरोंके आत्माको आत्मरूपसे और देहको देहरूपसे जानता हुआ निर्विकार साम्यसुधा-का आस्वादन कर रहा हूँ।'

व्याख्या—अपनी पिछली भूल मालूम पड़ने पर आत्माकी परिणति कैसी होती है उसीका इस पद्यमें उल्लेख । अब वह देहमें आत्माका आरोप नहीं करता—आत्मा

---

* स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाऽध्यवस्यति ॥१०॥ (समाधितन्त्र)

१ दारादीनाम्। २ अनुभवन् तिष्ठामि।

को आत्मा और देहको देह समझता है—चाहे वह अपना हो या परका, और ऐसा करके वह उस निर्दोष समता-सुधाका आस्वाद लेरहा है जो अन्य प्रकारसे नहीं बनता। शरीर-जैसे अस्थिर और क्षण-क्षणमें विकारग्रस्त होनेवाले पदार्थमें आत्माकी धारणा करनेसे समता-सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। वहाँ तो सदा दुःख-दायिनी विषमताएँ घेरे रहती हैं—निराकुलताका कहीं नाम भी नहीं। अतः देहमें आत्मबुद्धि ही दुःखका मूल है *। इसीसे स्त्री-पुत्र-मित्रादिकी कल्पनाएँ उत्पन्न होकर दुःखपरम्परा बढती है † ।

तत्त्वज्ञानादिसे व्याप्त चित्तकी इन्द्रिय-दशा

तत्त्वविज्ञान-वैराग्य-रुद्ध-चित्तस्य खानि मे ।
न मृतानि न जीवन्ति न सुप्तानि न जाग्रति ५२

'तत्त्व अथवा तत्त्वोंके विज्ञान और वैराग्यसे अवरुद्ध चित्त हुआ जो मै (आत्मा) उसकी इन्द्रियाँ न मरी हैं, न जीती हैं, न सोती हैं और न जागती हैं।'

व्याख्या—यहाँ, इस रहस्यकी ओर संकेत है कि सारा चित्त जब वस्तुतत्त्वके विज्ञानसे पूर्ण और वैराग्यसे

---

* मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीः (समाधितन्त्र)

† देहे स्वात्मधिया जाताः पुत्र-भार्यादि-कल्पना ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा! हतं जगत् ॥ (समाधितन्त्र १४)

व्याप्त होता है तब इन्द्रियोंकी ऐसी अनिर्वचनीय दशा हो जाती है कि उन्हें न तो मृत कहा जाता है न जीवित, न सुप्त कहने में आता है और न जाग्रत। मृत इसलिये नहीं कहा जाता कि उनमें स्व-विषय-ग्रहणकी योग्यता पाई जाती है और वे कालान्तरमें अपने विषयको ग्रहण करती हुई देखी जाती हैं; जब कि मृतावस्थामें ऐसा कुछ नहीं बनता। जीवित इसलिये नहीं कहा जाता कि विषय-ग्रहणकी योग्यता होते हुए भी उनमें उस समय विषय-ग्रहणकी प्रवृत्ति नहीं होती। अथवा यों कहिये कि जीविनी शक्ति-का कोई व्यवहार या व्यापार देखनेमें नहीं आता। सुप्त इसलिये नहीं कहा जाता कि विषयके अग्रहणमें उनके निद्राकी परवशता–जैसा कोई कारण नहीं है। और जाग्रत इसलिये नहीं कहा जाता कि निद्राका अस्तित्व अथवा उदय न होनेसे उपयोगकी स्वतंत्रताके होते हुए भी वह उनके उन्मुख नहीं होता—तत्त्वज्ञान और वैराग्यके ही सम्मुख बना रहता है—उपयोगकी अनुपस्थितिमें इन्द्रियाँ सुप्त न होते हुए भी जागृतावस्था-जैसा कोई काम नहीं कर पातीं।

विशद-ज्ञान-सन्ताने संस्कारो[१]द्बोध-रोधिनि।
जाग्रत्य[२]जाग्रत्[३]स्मृत्यादे[४]: किं स्मरेत्[५]कल्पनापि[६] मे ५२

१ संकल्प-विकल्प। २ सति। ३ यद्यजाग्रत्। ४ द्वितीयार्थे षष्ठी। ५ बाह्यवस्तु प्रति किं स्मरेत्? अपि न। ६ कल्पना परिणतिश्च।

'संस्कारोंके उद्बोधका निरोध करनेवाले विशदज्ञान-की सन्ततिके जाग्रत होनेपर यदि (किसी समय) स्मरणा-दिविषयक मेरी कोई कल्पना जाग भी उठे तो वह क्या स्मरण करेगी ? कुछ भी स्मरण न कर सकेगी ।'

व्याख्या—पुरातन-संस्कारोंके जाग उठनेसे जो संकल्प-विकल्प चित्तमें उत्पन्न हुआ करते हैं उनको रोकनेवाले निर्मल ज्ञानकी सन्ततिके अन्तःकरणमें जागृत होनेपर यदि किसी बाह्य वस्तुके प्रति स्मरणकी कोई कल्पना भी किसी समय जाग उठे तो क्या वह कल्पनास्थित स्मृति किसी वस्तुका स्मरण करेगी ? नहीं करेगी; किन्तु अन्तरंगमें शुद्ध उपयोगकी धारा बराबर अविच्छिन्न-रूपसे प्रवाहित होती रहेगी ।

स्वानुभूतिकी वृद्धिके लिये भावना

निश्चित्यानुभवन् हेयं स्वानुभूत्यै बहिस्त्यजन् ।
आदेयं चाददानः स्यां भोक्तृ[1]रत्नत्रयात्मकः ॥५४

'स्वानुभूतिकी उत्तरोत्तर विशेषप्राप्तिके लिये मैं निश्चित रूपसे अपने आपको अनुभव करता हुआ हेयको, जो मेरे स्वरूपसे बाह्य है, छोड़ कर आदेयको, जो मेरा स्वरूप है, ग्रहण कर रत्नत्रयात्मक निजभावका भोक्ता बनूँ (ऐसी मेरी भावना है) ।'

[1] निजचैतन्यभावस्य भोक्ता अहं भवेयम् ।

है। अशुभ-भावोंके त्याग और शुभ-भावोंमें प्रवृत्तिके विना शुद्धोपयोग बनता ही नहीं। शुद्धोपयोग ही नहीं किन्तु सामान्य चारित्र भी नहीं बनता; क्योंकि अशुभसे विनिवृत्ति तथा शुभमें प्रवृत्तिका नाम व्यवहार चारित्र है, जो कि व्रत, समिति तथा गुप्तिरूप है; जैसा कि श्रीनेमिचन्द्राचार्यके द्रव्यसंग्रहकी निम्न गाथासे प्रकट है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूव ववहारणया दु जिणभणिय ॥

अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोगोंका स्वरूप

उपयोगोऽशुभो राग-द्वेष-मोहैः क्रियात्मनः।
शुभःकेवलिधर्मानुरागाच्छुद्धःस्वचिल्लयात् ५६

'राग-द्वेष-मोहके द्वारा आत्माकी जो क्रिया—परिणति होती है वह अशुभ उपयोग है; केवलि-प्रणीत-धर्ममें अनुराग रखनेसे जो आत्माकी परिणति होती है वह शुभ उपयोग है और अपने चैतन्यस्वरूपमें लीन होनेसे आत्माकी जो परिणति बनती है वह शुद्ध उपयोग है।'

व्याख्या—यहाँ अशुभ, शुभ और शुद्ध तीनों प्रकारके उपयोगोंका स्वरूप दिया है। राग, द्वेष और मोहके साथ जो आत्माकी खुली परिणति है उसका नाम अशुभोयोग है; केवलि-द्वारा प्रणीत हुए मुनि तथा श्रावक धर्मके

कि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

राग‌द्वेषादि-कल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥(समाधितंत्र)

शुद्धात्मस्वरूपमें लीन योगीकी निर्भयता

शुद्ध-बुद्ध-स्वचिद्रूप एव लीनः कुतोऽपि न ।
बिभेति परमानन्द एव विन्दति भावकम्[1] ॥५८॥

'शुद्ध-बुद्ध-स्वचिद्रूप परमानन्दमें लीन हुआ योगी किसीसे भी भयको प्राप्त नहीं होता। किन्तु वह निर्भय हुआ भावकका—परमानन्दका—ही अनुभव करता रहता है।'

व्याख्या—यहाँ अपने शुद्ध-बुद्ध-चिदानन्दमयी रूपमें लीन होनेके फलको दर्शाया है और यह बतलाया है कि ऐसा स्वात्मलीन योगी किसीसे भी भयको प्राप्त नहीं होता—चाहे किसीके द्वारा कैसा भी उपद्रव क्यों न किया जाता हो—वह परमानन्दरूप आत्मरसका ही आस्वादन करता रहता है।

यहाँ जिस 'परमानन्द'का उल्लेख है उसके विषयमें श्रीपूज्यपादाचार्यके इष्टोपदेश-गत निम्न दो वाक्य खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं:—

आत्माऽनुष्ठान-निष्ठस्य व्यवहार-बहिःस्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः ॥४७॥

१ परमानन्दम् ।

आनन्दो निर्दहत्युद्ध कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चाऽसौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतन. ॥४८।

इनमें बतलाया है कि 'जो आत्माके अनुष्ठानमें-आत्मा-को देहादिकसे भिन्न करके आत्मामें ही अवस्थापित करने-में—तत्पर है और प्रवृत्ति-निवृत्ति अथवा ग्रहण-त्यागरूप व्यवहारसे बाह्य है उस ध्याता योगीके स्वात्मध्यानरूप योगके कारण कोई ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है जो परम है—अन्यत्र असंभव है। यह परमानन्द प्रचुर कर्मसन्ततिको उसी तरह जला डालता है जिस तरह कि अग्नि ईंधनको । ऐसा परमानन्द-मग्न योगी–ध्यानी बाह्य दुःखोंमें—परीषह, उपसर्ग तथा क्लेशादिकोंमें—अचेतन रहता है—उसे उनका अनुभव नहीं होता और इसलिये वह खेद अथवा संक्लेशको प्राप्त नहीं होता है।'

जीवन्मुक्तिकी ओर अग्रसरता

*तदैकाग्र्यं परं प्राप्तो निरुन्धन्नशुभास्रवम् ।
क्षपयन्नर्जितं चैनो जीवन्नप्यस्ति निर्वृतः ॥५६

'उस परमैकाग्रताको प्राप्त हुआ तथा अशुभास्रवको रोकता हुआ और उपार्जित पापको क्षय करता हुआ (योगी) जीवित रहता हुआ भी निर्वृत है—जीवन्मुक्त है।'

* एकाग्र-चिन्ता-रोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः ।
तद्ध्यानं निर्जरा-हेतुः संवरस्य च कारणम् ॥ (तत्त्वानु० ५६)

व्याख्या—जो योगी उक्त प्रकारकी परम-एकाग्रता-को प्राप्त होता है उसके सब अशुभ आस्रव रुक जाते हैं, अर्जित पापोंका नाश हो जाता है और इस प्रकार वह जीवन्मुक्त-अवस्थाको प्राप्त होता है। जीवन्मुक्त-अवस्थाको प्राप्त करानेवाली यह परम-एकाग्रता शुक्लध्यानकी एकाग्रता है, जिससे मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामके चार घातियाकर्म जलकर भस्म हो जाते हैं। वस्तुतः ध्यानकी इस एकाग्रतामें बहुत बड़ी शक्ति है। इसीसे ध्यानको संवर तथा निर्जराका हेतु बतलाया गया है।

त्रिविधकर्मके त्यागकी भावना

यद्भावकर्मरागादि यज्ज्ञानावरणादि तत्।
द्रव्यकर्म यदङ्गादि नोकर्मोज्झामि तद् बहिः॥६०

'जो रागादिरूप भावकर्म हैं, जो ज्ञानावरणादिरूप द्रव्य-कर्म हैं और जो शरीरादिरूप नोकर्म हैं वे सब (मेरे स्वरूप-से) बाह्य पदार्थ हैं, उन्हें मैं छोड़ता हूँ—उनसे उपेक्षा धारण करता हूँ।'

व्याख्या—यहाँ रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म और शरीरादि नोकर्मरूप तीनों ही प्रकारके कर्मोंको यह समझकर त्यागनेकी भावना की गई है कि वे मेरे स्वरूपसे बाह्य हैं। इस प्रकारकी हार्दिक भावना एवं तदनुकूल प्रवृत्तिसे कर्मों तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले

कार्यों अथवा कर्म-फलोंमें आसक्ति घटती है और एक दिन उन सबसे निवृत्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है।

भावकर्मका स्वरूप

भाव्यतेऽभीक्ष्णमिष्टार्थ-प्रीत्याद्यात्मतयात्मना।
वेद्यते यत्करोतीमं यद्वशे भावकर्म तत् ॥६१॥

'जो निरन्तर इष्ट अर्थकी प्रीति (राग) आदिके रूपसे आत्माके द्वारा अनुभव किया जाता है और जिसके वशवर्ती होने पर संसारी जीव राग-द्वेषादिरूप प्रवृत्ति करता है, वह 'भावकर्म' है।

व्याख्या—राग-द्वेष-काम-क्रोधादिके रूपमें जिसे सदा अनुभव किया जाता है उसको तथा कर्मरूप परिणत पुद्गल पिण्डकी उस शक्तिको भावकर्म कहते हैं जिसके वश यह जीव रागादिकका कर्ता होता है। गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी छठी गाथामें द्रव्यकर्म और भावकर्मका स्वरूप बतलाते हुए "पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्म तु" यह वाक्य दिया है और गाथाकी टीकामें लिखा है—

"प्रागुक्त सामान्यकर्म कर्मत्वेन एकं तु पुनः द्रव्य-भाव-भेदाद् द्विविधं। तत्र द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्डो भवति। पिंडगतशक्तिः कार्ये कारणोपचारात् शक्तिजनिताऽज्ञानादिर्वा भावकर्म भवति।"

इससे मालूम होता है कि ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मरूप-

१ वेद्यते। २ सति।

परिणत पुद्गलपिण्डमें जो अज्ञान तथा रागद्वेषादिरूप फल-दानकी शक्ति है उसीका नाम वस्तुतः भावकर्म है, रागादिकको जो भावकर्म कहा जाता है वह कार्यमें कारणके उपचारकी दृष्टिसे है।

द्रव्यकर्मका स्वरूप

बोधरोधादिरूपेण बहुधा पुद्गलात्मना[१]।
विकायति[२] चिदात्मापि [३]येनात्मा द्रव्यकर्म तत्॥

'जिस ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलात्मक कर्मके द्वारा चैतन्य स्वरूप होते हुए भी आत्मा बहुधा विरूपक होता है—कर्मानुरूपास्थाको धारण करता है—वह 'द्रव्यकर्म' है।

व्याख्या—उस पुद्गल प्रचयका नाम 'द्रव्यकर्म' है जो आत्माके ज्ञानादि गुणोंको आवृत अथवा विकृत करनेकी शक्ति एवं प्रकृतिसे सम्पन्न होता है और अपनी इस प्रकृतिके अनुरूप ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, नाम, गोत्र, आयु ऐसे आठ मूल-भेदोंमें विभक्त है—जिनके उत्तरोत्तर भेद असंख्य हैं—और जिसके साथ बंधको प्राप्त होनेसे यह चैतन्यस्वरूप आत्मा भी बहुधा विकारको प्राप्त होता है—अपने स्वरूपसे च्युत होकर उस कर्मके अनुसार प्रवृत्ति किया करता है। इस द्रव्यकर्मके भेद-प्रभेदों, बंध, सत्त्व, उदय-उदीरणा, संक्रमण,

१ पुद्गलस्वभावेन। २ विरूपको(कर्मरूपो) भवति। ३ कर्मणा।

उत्कर्षण, अपकर्षण और फलादिके वर्णनोंसे ग्रंथ भरे हुए हैं। अतः इस विषयकी विशेष जानकारीके लिये षट्खंडागम, कसायपाहुड, धवल, जयधवल, महाबन्ध, कम्मपयडी, गोम्मटसार और पंचसंग्रह जैसे ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

नोकर्मका स्वरूप

यज्जीवेऽङ्गादि तद्वृद्धि-हान्यर्थः पुद्गलोच्चयः।
तथा विकुरुते कर्मवशान्नोकर्म नाम तत् ॥६३॥

'जीवमें जो अंगादिक हैं उनकी वृद्धि-हानिके लिये जो पुद्गल-समूह कर्मोदयवश तद्रूप विकारको प्राप्त होता है उसका नाम 'नोकर्म' है।'

व्याख्या—संसारी जीवोंके शरीरों और पर्याप्तियोंकी पुष्टि तथा क्षीणतादिके निमित्त पुद्गल-परमाणुओंका जो समूह नामादि कर्मोंके उदयवश उन अंगादिकी पुष्टि आदि के रूपमें परिणमता है उसे 'नोकर्म' कहते हैं। 'नो' शब्द यहाँ अभाव अर्थका वाचक न होकर ईषत्, अल्प, लघु अथवा किंचित् अर्थका वाचक है। 'अंग' शब्दसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंका अभिप्राय है और 'आदि' शब्दके द्वारा यहाँ षट् पर्याप्तियोंका ग्रहण विवक्षित है; क्योंकि अभयचन्द्रादि आचार्योंने 'तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलके परिणाम तथा

आदान (ग्रहण)को नोकर्म बतलाया है'; जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

शरीरत्रय-पर्याप्तिषट्क-योग्य-पुद्गलपरिणामो नोकर्म ।
—लघीयस्त्रय-टीकायां, अभयचन्द्रः

शरीर-पर्याप्ति-योग्य-पुद्गलाऽऽदानं नोकर्म। (न्यायकुमुदचन्द्र)

हेय और उपादेयका विवेक

व्यवहारेण मे हेयमसद्ग्राह्यं च सद्बहिः ।
सिद्ध्यै निश्चयतोऽध्यात्मं मिथ्येतरदृगादिकम्[1] ॥६४

'सिद्धिके अर्थ—स्वात्मोपलब्धिके लिये—मेरे व्यवहारनयकी अपेक्षा बाह्य-विषयक मिथ्यादर्शनादिक हेय (त्याज्य) हैं, जो कि असत् हैं; और बाह्य-विषयक सम्यग्दर्शनादिक उपादेय (ग्राह्य) हैं, जो कि सत् हैं। और निश्चयनयकी दृष्टिसे अध्यात्म-विषयक मिथ्यादर्शनादिक मेरे हेय हैं, जो कि असत् हैं, और अध्यात्म-विषयक सम्यग्दर्शनादिक उपादेय हैं, जो कि सत् हैं।'

व्याख्या—यहाँ स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिके लिये व्यवहार तथा निश्चय दोनों नयोंकी दृष्टिसे हेय तथा उपादेयका निर्देश किया गया है। दोनों ही नयोंकी दृष्टिसे यद्यपि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हेय हैं—दुखका कारण होनेसे, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उपादेय हैं—सुखका

१ मिथ्यादृगादिकं हेय सम्यग्दृगादिकं ग्राह्यम् ।

कारण होनेसे; फिर भी नयदृष्टिसे मिथ्यादर्शनादिके तथा सम्यग्दर्शनादिके विषयोंमें परस्पर अन्तर है। व्यवहारनयके विषयभूत मिथ्यादर्शनादिक तथा सम्यग्दर्शनादिक अध्यात्मसे भिन्न बाह्य-विषयोंसे सम्बन्ध रखते हैं; जैसे कुदेवागम-गुरु आदिके श्रद्धानादिरूप मिथ्यादर्शनादिक तथा सुदेवागम गुरु या सप्ततत्त्वादिके श्रद्धानादिरूप सम्यग्दर्शनादिक। और निश्चयनयके विषयभूत मिथ्यादर्शनादिक तथा सम्यग्दर्शनादिक एकमात्र अपने आत्म-विषयसे सम्बन्ध रखते हैं—पर-पदार्थोंके मिथ्या अथवा सम्यक् श्रद्धानादिसे उनका सम्बन्ध नहीं है।

हेय और उपादेयके इस विवेकको तत्त्वानुशासनमें अच्छा खुलासा करके बतलाया गया है। अतः विशेष जानकारीके लिये उसे देखना चाहिये।

न मे हेयं न चाऽऽदेयं किंचित्परमनिश्चयात्।
तद्यत्नसाध्या वाऽयत्नसाध्या वा सिद्धिरस्तु मे।६५

‘(किन्तु) परमशुद्ध-निश्चयनयकी दृष्टिसे मेरे लिये न कुछ हेय है और न कुछ आदेय(ग्राह्य)। मुझे तो सिद्धि—स्वात्मोपलब्धि—चाहिये, चाहे वह यत्नसाध्य हो या अयत्नसाध्य—उपाय करनेसे मिले या विना उपायके ही।’

व्याख्या—यहाँ परमनिश्चयनयकी दृष्टिसे यह प्रतिपादन किया है कि मेरे लिये न कोई पदार्थ हेय है और न

उपादेय । हेय इसलिये नहीं कि मेरे आत्मस्वरूपको कोई भी परपदार्थ अन्यथा करनेमें समर्थ नहीं, और उपादेय इसलिये नहीं कि कोई भी परपदार्थ मेरे स्वरूपमें किसी प्रकारकी वृद्धि करनेमें समर्थ नहीं है । मुझे तो स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि चाहिये, चाहे वह यत्नसे मिलो या विना यत्नके ही । यदि विना यत्नके ही मिल जाय तो बहुत अच्छी बात है, अन्यथा यत्न करना ही होगा । उस यत्नमें उक्त नयदृष्टिसे किसीको हेय या उपादेय मानकर राग-द्वेष करनेकी मुझे जरूरत नहीं है ।

इस पद्य तथा इससे पूर्ववर्ती पद्यमें श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न पद्यकी दृष्टि अथवा भावको ही कुछ दूसरे शब्दोंमें, नयोंकी विवक्षा एवं बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयकी स्पष्टताको साथमें लेते हुए, व्यक्त किया गया है—

> त्यागाऽऽदाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।
> नाऽन्तर्बहिरुपादान न त्यागो निष्ठितात्मन ॥ (स०त० ४७)

इसमें बतलाया है कि 'देहादिकमें आत्मबुद्धि रखनेवाला मूढ जन बाह्य वस्तुओंमें ही त्याग और ग्रहणकी प्रवृत्ति करता है—उसके त्यागका कारण प्रायः द्वेषका उदय तथा अभिलाषाका अभाव और ग्रहणका कारण प्रायः रागका उदय और अभिलाषाकी उत्पत्ति होता है; किन्तु आत्मज्ञानी अपने आत्मस्वरूपमें ही त्याग-ग्रहणकी प्रवृत्ति करता है—

उसका त्याग राग-द्वेषादिका तथा अन्तर्जल्परूप-विकल्पका होता है, जो आत्मस्वरूपको मलिन किये रहते हैं, और ग्रहण अपने शुद्धचिदानन्द-स्वरूपका होता है। परन्तु जो इन दोनों अवस्थाओंको—बहिरात्म तथा अन्तरात्म-दशाओंको—पार करके निष्ठितात्मा बन गया है—स्वात्मस्थित अथवा आत्मनिरत कृतकृत्य हो गया है—उसके लिये फिर बाह्य तथा आभ्यन्तर किसी भी प्रकारके त्याग-ग्रहणकी कोई बात नहीं बनती अथवा नहीं रहती।

अहंकार-भवितव्यताके त्याग-ग्रहणकी प्रेरणा

भवितव्यतां भगवती-[1]
मधियन्तु[2] रहन्त्वहं[3] करोमीति।
यदि सद्गुरूपदेश-
व्यवसित-जिनशासनरहस्याः ॥६६॥

'यदि सद्गुरुके उपदेशसे जिनशासनके रहस्यको आपने ठीक निश्चित किया है—समझा है—तो 'मैं करता हूँ' इस अहंकारपूर्ण कर्तृत्वकी भावनाको छोड़ो और भगवती भवितव्यताका आश्रय ग्रहण करो।'

व्याख्या—यहाँ 'रहन्त्वहं करोमीति' वाक्य खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है। इसमें 'मैं करता हूँ' इस अहंकार-

१ माहात्म्यवतीम्। २ आश्रयन्तु। ३ त्यजन्तु।

की भावनाके त्यागका उपदेश है; क्योंकि कोई भी कार्य अन्तरंग और बहिरंग अथवा उपादान और निमित्त इन दो मूल कारणोंके अपनी यथेष्ट अवस्थाओंमें मिले बिना नहीं बनता और उन सब कारणों अथवा उन कारण-द्रव्योंकी उस उस अवस्थारूप तू स्वयं नही है और न उन पर-द्रव्यों-को अपने रूप परिणमानेकी तुझमें शक्ति है—कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको छोड़कर कभी दूसरे द्रव्यरूप परिण-मता नहीं—; तब तू अकेला उस कार्यका कर्ता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। अतः तेरा अहंकार व्यर्थ है, जो तुझे अपने स्वरूपसे भ्रान्त (गुमराह) रखकर पतनकी ओर ले जाता है। अथवा यों कहिये कि देहमें आत्मबुद्धि धारण कराकर संसारके दुःखोंका पात्र बनाता है। ऐसे ही अहंकारसे पीड़ित प्राणियोंको लक्ष्य करके स्वामी समन्त-भद्रने स्वयभूस्तोत्रमें उन्हें अनीश्वर—असमर्थ बतलाते हुए निम्न वाक्य कहा है—

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाऽऽविष्कृत-कार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी॥

यहाँ कार्यमें कर्तृत्वके अहंकारको त्यागनेकी बात कही गई है, न कि कार्यको त्यागनेकी। कार्य तो किया जाना ही चाहिये; क्योंकि भवितव्यताका लक्षण भी वह कार्य है जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणोंके मिलनेसे

आविष्कृत होता है। बहिरंग कारण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादिके रूपमें अनेक हुआ करते हैं, जिनमें तुम्हारा योग-दान भी एक कारण हो सकता है, और इसलिये योग्य-कारण-कलापके मिलापसे ही कार्य बनता है—किसी अकेले अथवा एक ही कारणके वह वशका नहीं—और इस प्रकारसे निष्पन्न होनेवाले कार्यका नाम भी भवितव्यता है। अथवा यों कहिये कि किसी कार्यके बनने-बिगड़नेके लिये तद्योग्य कारण-कलापके भावी मिलापका नाम भवितव्यता है। यह नहीं हो सकता कि योग्य कारण-कलाप मिले और कार्य न हो। इसीसे भवितव्यताको 'अलंघ्यशक्ति' कहा है, जिसके लिये प्रकृत पद्यमें 'भगवती' शब्दका प्रयोग किया गया है। उसका यह अर्थ नहीं कि बाह्य तथा अन्तरंग दोनों प्रकारकी साधन-सामग्रीकी पूर्णता तो न हो और कार्य यों ही भवितव्यतावश बन जाय। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कार्योत्पत्तिमें इस उभय प्रकारकी साधनसामग्रीकी पूर्णताको द्रव्यगत स्वभावके रूपमें अति आवश्यक बतलाया है। अन्यथा मोक्षकी कोई विधि-व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी; जैसा कि स्वामीजीके उक्त स्तोत्र-गत निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

बाह्येतरोपाधि-समग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवाऽन्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवद्यस्त्वमृषिर्बुधानां॥

ऐसी स्थितिमें भवितव्यताका आश्रय लेनेका अभिप्राय इतना ही है कि स्वयं तत्परताके साथ कार्य करके उसे फलके लिये भवितव्यता पर छोड दो—फलकी एषणा (अभिलाषा) से आतुर मत हो; क्योंकि इच्छित फलकी प्राप्ति उस सब साधन-सामग्रीकी पूर्णता पर अवलंबित है, जो तुम्हारे अकेलेके वशकी नहीं है—तुम किसी द्रव्यके स्वभावको उससे पृथक् नहीं कर सकते और न उसमें कोई नया स्वभाव उत्पन्न ही कर सकते हो। सब द्रव्योंका परिणमन उनके स्वभाव तथा उनकी परिस्थितियोंके अनुसार हुआ करता है। इसलिये कर्तृत्व-विषयमें तुम्हारा एकांगी अहंकार निःसार है।

यहाँ एक दृष्टान्त-द्वारा इस विषयको कुछ स्पष्ट किया जाता है। मोहनका हृदय सोहनके दुख-दारिद्रचका परिचय पाकर द्रवीभूत होगया और उसने उसे एक अच्छी रकम दानमें देदी। दानकी रकमको पाकर सोहनकी दरिद्रता दूर हुई और वह अपनेको सुखी अनुभव करने लगा। इधर मोहनको यह अहंकार हो आया कि मैंने ही सोहनका दुख-दारिद्रच दूर किया है और मैंने ही उसे सुखी बनाया है। परन्तु वह यह नहीं समझता कि उस दिन जो दान उसने दिया था वह दान उससे पहले क्यों नहीं दिया गया—सोहनकी वह दुख-दरिद्रावस्था तो महीनों-

से चल रही थी और उसका मोहनको कितना ही परिचय भी था; फिर भी सोहनका दुख-संकट मोचनके लिये मोहनके उस दानकी प्रवृत्ति उससे पहले नहीं हो सकी, जिसका कोई कारण तो होना ही चाहिये। और इसलिये कहना होगा कि या तो उससे पूर्व मोहनके दानान्तराय कर्मका उदय था—क्षयोपशम नहीं था, जिससे इच्छा रहते भी उसकी दानमें प्रवृत्ति नहीं हो सकी; या उसे सोहनकी दुर्दशाका ऐसा परिचय प्राप्त नहीं हुआ था जिससे उसका हृदय दयासे द्रवीभूत होता और उसके फलस्वरूप दानकी भावना उत्पन्न होकर दानमें उसकी प्रवृत्ति होती; अथवा मोहनके भाग्यका उदय एवं लाभान्तराय कर्मका क्षयोपशम ही नहीं हुआ था, जिससे उसे उक्त धनकी पहलेसे प्राप्ति होती—वह यही सोचता रहा कि 'यह दुःख-दारिद्र्य कुछ दिनमें यों ही टल जायगा, क्यों किसीके आगे हाथ पसारा जाय।' अन्तको जब दुःख-कष्ट असह्य हो उठा और उधर सद्भाग्यका उदय हो आया—लाभान्तरायकर्मके क्षयोपशमने जोर पकड़ा—तब उसकी बुद्धि पलट गई और वह एक प्रभावशाली पुरुषको साथ लेकर मोहनके पास गया, जिसने सोहनकी सज्जनता और दुःखावस्थादिका ऐसा सजीव चित्र प्रभावक-शब्दोंमें खींचकर मोहनके सामने रक्खा, जिससे उसका हृदय एकदम पसीज गया और उसे उक्त

प्रभावक पुरुषकी प्रेरणानुसार सोहनकी आर्थिक सहायता करते ही बन पड़ा। इस तरह मोहनके उस दिनके दान-कार्यमें कितने कारणोंका योग जुडा, जिससे वह दान-क्रिया सम्पन्न हो सकी, यह सहज ही जाना जा सकता है; और इसलिये अकेले मोहनके वशका वह कार्य नहीं कहा जा सकता और न उसे ही उसका सारा श्रेय दिया जा सकता है। मोहनके उस दानमें उसके दानान्तरायकर्म-के क्षयोपशमादिके साथ सोहनके भाग्योदय एवं लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमादिका भी बहुत कुछ हाथ है। यदि वह न होता तो मोहन रुपयोंकी थैलियाँ फैंक कर भी सोहनके विषयमें अपने उस दान-कार्यको चरितार्थ-नहीं कर सकता था। इस सम्बन्धमें एक पुरानी कथा प्रसिद्ध है कि, किसी लकड़हारेके दुःख--कष्टसे द्रवीभूत होकर एक देवताने उसके सामनेके मार्गमें कोई बहुमूल्य रत्न डाल दिया; परन्तु उसके भाग्यका उदय नहीं था और इसलिये उसी क्षण उसके हृदयमें यह भावना उत्पन्न हुई कि मैं अन्धा होने पर भी मार्ग चल सकता हूँ या कि नहीं? और परीक्षणके लिये आँख मीचकर चलते हुए वह उस बहुमूल्य रत्न पर पाँव रखता हुआ आगे निकल गया—उसे उस रत्नका लाभ नहीं हो सका। और एक दूसरे दरिद्री मनुष्यको ऐसे रत्नका लाभ हुआ भी, तो उसने उससे दमड़ीके तेलकी

बचतका लाभ समझा और वही लाभ उससे उठाया—अपने घरमें उसे दीपकके स्थान पर प्रकाशके लिये रख दिया। इससे स्पष्ट है कि यदि किसीके भाग्यका उदय न हो तो दूसरा उसे क्या सहायता पहुँचा सकता है।

रही सोहनको सुखी बनानेकी बात, केवल धन देकर कोई किसीको सुखी नहीं बना सकता। धनका दुरुपयोग भी हो सकता है और वह विपत्तिका कारण भी बन सकता है। दानकी रात्रिको ही उस धनको चोर-डाकू लेजा सकते थे और उसके कारण सोहन तथा उसके कुटुम्बीजनोंकी जानके लाले भी पड़ सकते थे। अतः एकमात्र दानकी उस रकमको सुखका कारण नहीं कहा जा सकता। सोहनके सुखी होनेका प्रमुख कारण उसके भाग्यका अथवा साता-वेदनीय आदि शुभ-कर्मोंका उदय है, सुखमें बाधक अन्त-रायादि कर्मोंका क्षयोपशम है, उसकी बुद्धिका विकास है, जिससे दानमें प्राप्त हुई उस रकमका वह सदुपयोग कर सका; और साथ ही उसके उन आत्म-दोषोंमें कमीका भी प्रभाव है जो उसे अशान्त तथा उद्विग्न बनाये हुए थे। ऐसी स्थितिमें मोहनका सोहनको सुखी बनानेका अहंकार व्यर्थ है। वास्तवमें सुख पौद्गलिक धनका कोई गुण भी नहीं है। ऐसे प्रचुर धनके स्वामियोंको भी बहुधा दुखी देखनेमें आता है। सुख तो आत्माका निज गुण है और वह

आत्म-शक्तियोंके विकास पर ही अपना आधार रखता है।

इसी दृष्टिको लेकर कर्तृत्व-विषयके अहंकारकी निः-सारताको दूसरे कार्यों पर भी घटित कर लेना चाहिये। भवितव्यताका आश्रय लेनेकी दृष्टिको ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। इससे अधिक उसका यह आशय कदापि नहीं है 'कि जो कुछ होना है वह स्वयं हो रहेगा ऐसा समझ-कर सारे पुरुषार्थका त्याग करते हुए बिल्कुल निष्क्रिय होकर बैठ जाना।' ऐसा आशय लेना जिन-शासनके रहस्यको न समझनेके समान है, जडवत् आचरणके सदृश है और अपनी सारी विकास-योजनाओं पर पानी फेर देनेके बरा-बर है। जिन-शासनमें ऐसे एकान्तके लिये कोई स्थान नहीं हैं। भवितव्यताका ऐसा एकान्त अर्थ ग्रहण करने पर हम अपने भोजनादिकी तय्यारीकी बात तो दूर रही, तय्यार भोजनको उदरस्थ भी नहीं कर सकेंगे—उसके लिये भी इच्छाके साथ हाथ-मुँहके पुरुषार्थकी–प्रयत्नकी–जरूरत है; दैवयोगसे प्राप्त हुई धनराशिको भी ग्रहण करने तथा उसका उपयोग करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे—उन सबके लिये भी सक्रिय होने तथा हस्त-पादादिकको हिला-कर कुछ प्रयत्न करनेकी जरूरत पड़ती है।

भगवान सर्वज्ञके ज्ञानमें जो कार्य जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिस प्रकारसे होना झलका है वह उसी

समय, वहाँ पर; उसीसे द्वारा और उसी प्रकारसे सम्पन्न होगा, इस भविष्य-विषयक कथनसे भवितव्यताके उक्त आशयमें कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि सर्वज्ञके ज्ञानमें उस कार्यके साथ उसका कारण-कलापभी झलका है, सर्वथा नियतिवाद अथवा निर्हेतुकी भवितव्यता, जो कि असम्भाव्य है, उस कथनका विषय ही नहीं है। इसके सिवाय सर्वज्ञके ज्ञानानुसार पदार्थोंका परिणमन नहीं होता, किन्तु पदार्थों-के परिणमनानुसार सर्वज्ञके ज्ञानमें परिणमन अथवा झल-काव होता है—ज्ञान ज्ञेयाकार है न कि ज्ञेय ज्ञानाकार। साथ ही, सर्वज्ञके ज्ञानमें क्या कुछ होना झलका है उसका अपने-को कोई परिचय नहीं है, न उसको जाननेका अपने पास कोई साधन ही है और इसलिये सर्वज्ञके ज्ञानमें झलकना न झलकना अपने लिये समान है—कोई कार्यकारी नहीं। ऐसी स्थितिमें भवितव्यताके उक्त कथनसे पुरुषार्थ-हीनता, अनुद्योग तथा आलस्यका कोई पोषण नहीं होता और न उन्हें वस्तुतः किसी प्रकारका कोई प्रोत्साहन ही मिलता है।

मूल पद्यमें जिनशासनके रहस्यको अधिगत करनेके फलस्वरूप अहंकृतिके त्याग तथा भवितव्यताका आश्रय लेनेकी बात कही गई है, इसीसे जिनशासनकी दृष्टिके साथ इस विषयको इतना स्पष्ट करके बतलानेकी ज़रूरत पड़ी है। जिससे तद्विरुद्ध कोई ग़लत धारणा कहीं जड़ न पकड़ सके,

उपादेयरूपमें जिन सम्यग्दर्शनादिककी विज्ञप्ति ६४वें पद्यमें की गई थी उनका क्रमशः स्वरूप निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंकी दृष्टिसे आगे दिया जाता है।

व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शनका स्वरूप

शुद्ध-बुद्ध-स्व चिद्रूपादन्यस्याभिमुखी रुचिः।
व्यवहारेण सम्यक्त्वं निश्चयेन तथाऽऽत्मनः॥६७

'आत्माकी अपने शुद्ध बुद्ध-चिद्रूपसे भिन्न जो अन्याभिमुखी—षट्द्रव्यों तथा सप्ततत्त्वादिके अभिमुख—रुचि है वह व्यवहारनयसे सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) है; निश्चयनयसे उस आत्माभिमुखी रुचिका नाम सम्यक्त्व है, जो अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूपकी ओर प्रवृत्त होती है।

व्याख्या—यहाँ व्यवहार तथा निश्चयनय की दृष्टिसे सम्यक्त्वका—सम्यग्दर्शनका—स्वरूप दिया है। आत्माकी उस रुचि—प्रतीतिका नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है जो अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूपसे भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामके छह द्रव्यों तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामके सप्त तत्त्वों अथवा पुण्य-पाप-सहित नव पदार्थों आदिके अभिमुख रहती है—मुख्यतः उन्हें ही अपना विषय बनाये रखती है—और निश्चय-सम्यग्दर्शन आत्माकी उस स्वात्माभिमुखी रुचिका नाम है जो मुख्यतः अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूपकी ओर प्रवृत्त होती है

—उसे ही अपना विषय बनाये रखती है, दूसरे पदार्थ उसकी दृष्टिमें गौण होते हैं।

निश्चय और व्यवहार सम्यग्ज्ञानका स्वरूप

निर्विकल्प-स्वसंवित्तिरनर्पित-परग्रहा।
सज्ज्ञानं निश्चयादुक्तं व्यवहारनयात्परम्[१] ॥६८

'पर-पदार्थोंके ग्रहणको गौण किये हुए निर्विकल्प स्वसंवेदनको निश्चयनयकी दृष्टिसे 'सम्यग्ज्ञान' कहा गया है, और व्यवहारनयसे पर-पदार्थोंके ग्रहणरूप सविकल्प ज्ञानको 'सम्यग्ज्ञान' कहा गया है।'

व्याख्या——निश्चयनयसे उस निर्विकल्प-स्वसंवेदनका नाम सम्यग्ज्ञान है जो स्वात्मासे भिन्न परपदार्थोंके ग्रहणको गौण किये रहता है, और व्यवहारनयसे सम्यग्ज्ञान उस सविकल्पज्ञानका नाम है जो पर-पदार्थोंके ज्ञानको मुख्य किये रहता है। यों स्व-परका ज्ञान दोनों ही प्रकारके सम्यग्ज्ञानोंका विषय है, चाहे वह सविकल्प हो या निर्विकल्प। विकल्प नाम भेद, विशेष, तथा पर्यायका है, जो इससे युक्त वह सविकल्प और जो इससे रहित है वह निर्विकल्प कहा जाता है।

सविकल्प ज्ञानका स्वरूप

यदेव ज्ञानमर्थेन संसृष्टं प्रतिपद्यते।
वाचकत्वेन शब्दः स्यात्तदेव सविकल्पकम् ॥६९

'जो ज्ञान पदार्थके साथ संसृष्ट-संमिश्रित-रूपसे प्राप्त होता है उसका वाचक शब्द होनेसे वही ज्ञान सविकल्प ठहरता है।'

व्याख्या—यहाँ सविकल्पज्ञानकी पहिचानके लिये दो बातोंका निर्देश किया है—एक तो यह कि, वह शुद्ध स्वात्मासे भिन्न किसी दूसरे पदार्थके साथ भी संसर्गको प्राप्त हो रहा हो, और दूसरे यह कि वह शब्दके वाच्यरूपमें स्थित हो—किसी शब्द या शब्द-समूहका विषय बना हुआ हो।

व्यवहार और निश्चय सम्यक्चारित्रका स्वरूप

सद्वृत्तं सर्वसावद्य-योग-व्यावृत्तिरात्मनः ।
गौणं[1] स्याद्वृत्तिरानन्द-सान्द्रा कर्मच्छिदाञ्जसा ७०

'आत्माकी सर्व-सावद्य-योगसे जो व्यावृत्ति (निवृत्ति) है उसका नाम गौण अथवा व्यवहार सम्यक्चारित्र है, और जो कर्मके छेदनसे उत्पन्न होनेवाली आनन्द-सान्द्रा—परमानन्दमय—वृत्ति है उसका नाम अंजसा (मुख्य) अथवा निश्चय सम्यक् चारित्र है।'

व्याख्या—मन-वचन-कायके द्वारा किये जानेवाले हिंसादिक सभी पापकर्मोंसे आत्माकी जो निवृत्ति है उसका नाम व्यवहार सम्यक्चारित्र है। और जो कर्मोंके नाशसे

1 व्यवहारम्।

उत्पन्न होनेवाली आत्माकी परमानन्दमय वृत्ति है उसका नाम निश्चय (अंजसा) सम्यक्चारित्र है। व्यवहार सम्यक्-चारित्रको गौणचारित्र और निश्चय सम्यक् चारित्रको मुख्यचारित्र भी कहा जाता है।

उभयरूप रत्नत्रयके कल्याणकारित्वकी घोषणा

तत्त्वार्थाभिनिभेश-निर्णय-तपश्चेष्टामयीमात्मनः शुद्धिं लब्धिवशाद्व्रजन्ति विकलां[१]यद्यच्च पूर्णामपि। स्वात्म-प्रत्यय-वित्ति-तल्लयमयीं तद्भव्यसिंह-प्रियां भूयाद्वो व्यवहार-निश्चयमयं रत्नत्रयं श्रेयसे ॥७१

'जो जीव काल आदि किसी लब्धिके वशसे तत्त्वार्थके अभिनिवेशरूप—श्रद्धात्मक शुद्धिको, तत्त्वार्थके निर्णयरूप-सम्यग्ज्ञानात्मक शुद्धिको और तपश्चरणमयी सम्यक्-चारित्ररूप-शुद्धिको, जो कि सब विकल-व्यवहाररूप अपूर्ण है, धारण करते हैं वे स्वात्मप्रत्यय—निजात्मप्रतीति-रूप सम्यग्दर्शन, स्वात्मवित्ति—निजात्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और तल्लयमयी—निजात्मनिमग्नतारूप सम्यक्चारित्रमयी उस पूर्ण-आत्मशुद्धिको प्राप्त करते हैं जो कि भव्यसिंहों—भव्योत्तमोंकी प्रिया है—उन्हें अति प्यारी है। इस प्रकार यह व्यवहार और निश्चयरूप रत्नत्रय-धर्म तुम्हारे कल्याणके लिये होवे।'

---

१ व्यवहाररूपां अपूर्णामित्यर्थः।

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थका उपसंहार करते हुए रत्नत्रय-धर्मके व्यवहार और निश्चय दोनों रूपोंका एक साथ उल्लेख किया है और यह प्रतिपादन किया है कि जो जीव काललब्धि आदिके वश व्यवहार-रत्नत्रयको धारण कर अपूर्णशुद्धिको प्राप्त होते हैं वे निश्चय-रत्नत्रयके बलपर पूर्णशुद्धिको भी प्राप्त होते हैं । अन्तमें शुद्धिप्रिय-भव्य-जीवोंको यह आशीर्वाद दिया है कि 'यह व्यवहार और निश्चयरूप रत्नत्रयधर्म तुम्हारा कल्याण करे' ।

इस पद्यसे जहाँ व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रयका तुलनात्मक स्वरूप स्पष्ट होता है वहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि रत्नत्रयके दोनों ही रूप आत्मशुद्धिके कारण हैं—एकसे अपूर्ण शुद्धि बनती है तो दूसरेसे पूर्ण । अपूर्णसे पूर्णकी ओर गमन होता है अथवा अल्पशुद्धिके द्वारा ही महती शुद्धिकी साधना बनती है, इस दृष्टिसे व्यवहार रत्न-त्रयको यहाँ प्रथम स्थान दिया गया है, तदनन्तर निश्चय रत्नत्रयको रक्खा गया है और दोनोंको एक ही धर्मके अंगरूपमें प्रतिपादन करते हुए दोनोंको ही कल्याणकारी घोषित किया है ।

व्यवहार-रत्नत्रय निश्चय-रत्नत्रयका साधन है, इस विषयमें श्रीरामसेनाचार्यका निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यान-में लेने योग्य है, जिसमें मोक्षके हेतुभूत व्यवहार-रत्नत्रय-

को निश्चय-रत्नत्रयका साधन बतलाया है और इससे यह स्पष्ट है कि व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके विना निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये निश्चय तथा व्यवहार दोनों ही रत्नत्रय अपनी अपनी नय दृष्टिसे मोक्षके हेतु हैं। और इसीसे दोनोंको ही यहाँ कल्याणकारी घोषित किया गया है—

मोक्ष-हेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयाद्-व्यवहारतः।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूप स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥
—तत्त्वानुशासन २८

हृदयमें परब्रह्मरूपके स्फुरणकी भावना

शश्वच्चेतयते यदुत्सवमयं ध्यायन्ति यद्योगिनो
येन प्राणिति विश्वमिन्द्रनिकरा यस्मै नमः कुर्वते।
वैचित्री जगतो यतोऽस्ति पदवी यस्यान्तर-प्रत्ययो
मुक्तिर्यत्र लयस्तदस्तु मनसि स्फूर्जत्परंब्रह्म मे ॥ ७२

'जो निरन्तर आनन्दमय-चैतन्यरूपसे प्रकाशित रहता है, जिसको योगी जन ध्याते हैं, जिसके द्वारा यह विश्व प्राणित होता है, जिसे इन्द्रोंका समूह नमस्कार करता है, जिससे जगतकी विचित्रता विहित अथवा व्यवस्थित होती है, जिसका आन्तर प्रत्यय—हार्दिक श्रद्धान—पदवी (मार्ग) है और जिसमें लय होना मुक्ति है; ऐसा वह परमब्रह्म मेरे मनमें (सदा) स्फुरायमान रहो।'

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थके अन्तमें मंगलरूपसे उस परम-ब्रह्मका–परमविशुद्धिको प्राप्त सच्चिदानन्दमय-परमात्माका–स्मरण किया गया है जो आनन्दके साथ अपने चैतन्य-प्रकाशसे सदा ही प्रकाशमान है—कभी प्रकाशकी मन्दता या विकृतिको प्राप्त नहीं होता—, जिसको योगी जन आत्म-चिन्तनके लिये सदा अपने ध्यानका विषय बनाते हैं, जिससे विश्व आत्म-विकासकी प्रेरणा प्राप्त करता है, जिसके लिये इन्द्रके समूह तक नतमस्तक होते हैं, जिसकी अनेकता एवं विविध-रूपतासे जगतकी विचित्रता सुघटित होती है—अन्यथा जगतसे जिसका (चिदात्माका) सम्बन्ध अलग होने पर जगतमें फिर कोई खास विचित्रता या विशेषता नहीं रहती—, जिसकी हार्दिक श्रद्धा आत्म-विकासका मार्ग है और जिसमें लीन होना मुक्ति है। साथ ही, यह भावना भी की है कि ऐसा परमब्रह्मरूप सर्वज्ञसूर्य† मेरे हृदयमें सदा स्फुरित रहे—उसका प्रकाश मुझे बराबर मिलता रहे।

† अनगारधर्मामृतके ११वें पद्यकी स्वोपज्ञटीकामें 'ब्रह्मवद्भान्त्व-हृर्दिवम्' वाक्यका अर्थ देते हुए ग्रंथकारने 'ब्रह्मवत्' पदका अर्थ 'सर्वज्ञतुल्यम्' दिया है, और इस लिए यहाँ भी 'ब्रह्म' शब्दको सर्वज्ञका वाचक समझना चाहिये—केवलज्ञानमय सर्वज्ञ ही परमप्रकाशरूप परमब्रह्म है।

अन्त्य-मंगल-कामना

सद्गुरु वीर-समन्तभद्र प्रणमूँ सुखदाई,
जिनकी भक्ति-प्रसाद रुचिर-व्याख्या बन आई।
आशा धर निजहत पढ़ें सुनहें जो भाई,
आत्म-सुनिधि पहिचान रमें निजमें हर्षाई ॥१॥

यथाशक्ति युगवीरने, आगमके अनुसार।
व्याख्या आत्म-रहस्यकी, रची स्व-पर-हितकार ॥२॥

इति श्री आचार्यकल्प-पंडित-आशाधर-विरचितं
अध्यात्मरहस्याऽपरनाम-योगोद्दीपनशास्त्रं
हिन्दी-व्याख्या-मंडितं समाप्तम्।

अध्यात्मरहस्यकी पद्यानुक्रमणी

व्याख्यामें उद्धृत वाक्योंकी अनुक्रमणी

व्याख्यामें सहायक ग्रन्थोंकी सूची

१ अध्यात्म-रहस्य-टिप्पणी
२ अनगार-धर्मामृत (आशाधर)
३ अनगारध०-टीका (आशाधर)
४ इष्टोपदेश (पूज्यपाद)
५ इष्टोपदेश-टीका (आशाधर)
६ एकीभाव स्तोत्र (वादिराज)
७ कल्याणमन्दिर (कुमुदचन्द्र)
८ गोम्मटसार (नेमिचन्द्र)
९ गोम्मटसारटीका (द्वि०नेमिचन्द्र)
१० ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र)
११ तत्त्वानुशासन (रामसेन)
१२ तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी)
१३ देवागम (समन्तभद्र)
१४ द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र)
१५ न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र)
१६ प्रवचनसार (कुन्दकुन्द)
१७ मोक्षप्राभृत (कुन्दकुन्द)
१८ लघीयस्त्रय-टीका (अभयचन्द्र)
१९ समयसार (कुन्दकुन्द)
२० समयसार-टीका (अमृतचन्द्र)
२१ समाधितंत्र (पूज्यपाद)
२२ समाधितंत्र-टीका (प्रभाचन्द्र)
२३ समीचीनधर्मशास्त्र (समन्तभद्र)
२४ स्वयम्भूस्तोत्र (समन्तभद्र)